UNIVERSAL
LIBRARY
OU_182257
UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—902—26-3-70—5,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H83 A52H Accession No. H4229

Author अमृतराय.

Title हाथी के दाँत. 1956.

This book should be returned on or before the date last marked below.

हाथी के दाँत

अमृत राय

हंस प्रकाशन
इलाहाबाद

प्रकाशक

हंस प्रकाशन

इलाहाबाद

मुद्रक

पियरलेस प्रिन्टर्स

इलाहाबाद

आवरण-चित्र

सुप्रभात नन्दन

प्रथम संस्करण, सितम्बर १९५६

मूल्य २॥)

इस उपन्यास के सब पात्र, स्थान, स्थितियाँ इत्यादि काल्पनिक हैं और यदि कहीं किसी जीवित अथवा यथार्थ व्यक्ति या परिवेश से कोई साम्य दिखायी दे तो वह आकस्मिक है और लेखक का अभीष्ट नहीं है।

हाथी के दाँत

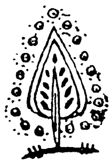

१ छबीली

सेंगरामऊ में कहाँ की बड़ी सोहबत रक्खी है। टुटरूँ टूँ वही तो दो-चार दोस्त हैं जिन्हें ओढ़ लो चाहे बिछा लो।

सो आज ठाकुर परदुमन सिंह की तबियत बिलकुल लग नहीं रही थी। लिहाज़ा उन्होंने व्हिस्की का दोहरा पेग चढ़ाया, हाथी दाँत के मूठ की अपनी नाज़ुक छड़ी उठायी और बाहर निकल पड़े।

किसी ने सच कहा है, वसंतागम विधुरों के लिए काल के समान होता है। आम गहगहाकर बौरे हुए थे। हवा महुए और आम्रमंजरी की गंध से अलसायी हुई थी। हलकी हलकी पुरवैया बह रही थी जिसमें खेत की पीली सरसों किसी अलबेली नवेली के आँचल की तरह लहरा रही थी। और साँझ की बेला थी। पेड़ों पर चिड़ियाँ चहक रही थीं, जैसे शाम को घर लौटकर निहायत बेसब्री से अपने दिन भर के तजुर्बे बयान कर रही हों।

बाँसों के झुरमुट आपस में कनबतियाँ कर रहे थे। गायें चरागाहों से लौट चुकी थीं और ग्रामपथ निर्जन हो चला था।

उस सूने ग्रामपथ पर बढ़ते हुए ठाकुर परदुमन सिंह को अपना जीवन भी उसी ग्रामपथ-सा ही जान पड़ा—सूना, एकाकी। बहुत ज़माना हुआ, लगभग बीस बरस, जब उनकी पत्नी सूरज-मुखी दो बच्चे देकर स्वर्ग सिधार गयी थी। उसके बाद फिर उन्होंने ब्याह नहीं किया। वह अपनी दिवंगता पत्नी की स्मृति का पाथेय लेकर अपने जीवन की शेष यात्रा पूरी करना चाहते थे। वैसे अपने पाँच-छः साल के विवाहित जीवन में ही उन्होंने इस बात को समझ लिया था कि न तो विवाह उनके लिए बना है और न वह विवाह के लिए। विधाता की सृष्टि में सब एक सा स्वभाव लेकर नहीं जनमते। कभी पाँच उँगलियाँ बराबर नहीं होतीं। विवाहित आदमी तेली का बैल होता है। सब लोग तेली के बैल नहीं बन सकते। यह ठीक है कि ठाकुर परदुमन सिंह के जीवन में भी ऐसी घड़ियाँ आती थीं जब उन्हें अपना सूनापन खलता था। लेकिन वह कुछ घड़ियों के लिए ही क्योंकि, सच बात है, उनका जीवन कुछ वैसा सूना न था। उस सराय को सूनी कौन कहेगा जिसमें हर रात नये बटोही आते हैं!

तब भी आज पता नहीं क्यों ठाकुर परदुमन सिंह उस सूने ग्रामपथ पर आगे नहीं बढ़ सके और पलटकर बस्ती की ओर चल पड़े। बस्ती में आने पर उनके मन की वह क्षणिक उदासी दूर हो गयी और वह अग़ल-बग़ल नज़रें दौड़ाते हुए, छड़ी फट-कारते और जुझारू मुर्गे की तरह ऐंड़ते हुए तहसीली कचहरी की ओर बढ़ने लगे। अभी मुशकिल से तीस गज़ गये होंगे कि उनकी आँखें किसी से टकरायीं और पैर ठिठककर रुक

गये। न जाने कौन एक युवती खिड़की खोलकर खड़ी थी। उनके हाथ के तोते उड़ गये—हैं! ऐसा तो रूप ही मैंने पहले नहीं देखा! इस जंगल में यह गुलाब कहाँ से आया!

और वहीं खड़े खड़े उन पर बीस पेग व्हिस्की का नशा चढ़ गया। वह फिर आगे नहीं बढ़ सके और अपनी हवेली पर लौट आये और सीधे अपने शयनकक्ष में गये, प्याले में शराब ढाली, अब्दुल्ला सिगरेट सुलगायी और दीवान पर लुढ़ककर उस अनन्य रूपसी के रूप की जुगाली करने लगे—कैसी भोली चितवन थी, कैसा सुडौल शरीर, गुलाबी गौर वर्ण, गोल गोल बांहें, चुनौती-सी देते हुए, हठीले, बरजोर, ऊर्ध्वमुख वक्ष....

और उनका मन इस पुष्ट नारी देह को अपनी बाँहों में जकड़कर तोड़ देने के लिए हिंस्र काम से सुलग उठा।

ठाकुर परदुमन सिंह इस समय पैंतालिस को पार कर पचास के पेटे में आ चुके थे। उनके मन के भीतर बैठे हुए किसी मेधावी चोर ने कहा—समझते हो? यह बाढ़ की नदी है, छितरा जाओगे! टटोलकर देखो, सँभाल सकोगे इस देह की भूख, इसके जोबन की आग? घास-फूस सा तुम्हारा यह शरीर, अब क्या धरा है इसमें!

घास-फूस? घास-फूस हैं आजकल के छोकरे—कल्ले बैठ गये हैं, आँखें फूट गयी हैं, दाँत झड़ गये हैं, कमर दुहर गयी है, टो-टोकर रास्ता चलते हैं....इनको जवान कहते हो? ये किधर से जवान हैं? घी-दूध आँजन लगाने तक को मिलता नहीं, रबड़ी-मलाई का ज़िक्र ही क्या! वनस्पती घी खाकर कहीं किसी को ताक़त आती है! सपने में भी तो इनको मयस्सर नहीं वह माल जो मैंने अपनी जवानी में चाभा है। तब फिर यह

क्या खाकर मेरी बराबरी करेंगे! जवान मैं हूँ। देखो मेरी इन कसी हुई जाँघों को, इन भरे हुए पुट्ठों को, इस चालिस इञ्च के सीने को—मैं किस जवान से कम हूँ? कोई वक्त था कि मैं हज़ार-हज़ार दण्ड और पाँच-पाँच हज़ार बैठकें निकालता था, मुगदर जो भाँजता था सो अलग, और अखाड़े में उस्ताद जी के संग जो ज़ोर करता था उसकी तो जैसे कोई बात ही नहीं। और फिर घुड़सवारी। घुड़सवारी से बढ़कर कौन कसरत है। घोड़े भी जैसे मेरा आसन पहचानते थे। एक से एक बदमाश घोड़े आये जो किसी को पुट्ठे पर हाथ न रखने दें, वह पटखनी दें सवार को कि हड्डी-पसली टूट जाय, मगर मैं था कि सबको बस में कर लेता था। अरे यही मेरी छबीली, अब तो बुड्ढी हुई मगर कितनी शरीर थी जब मेरे पास आयी थी, रुला-रुला मारती थी, कान तक तो छूने न दे। मुझे जब पता चला तो मैंने कहा, चलो मैं आता हूँ। मैंने बिरजिस चढ़ायी और पहुँचकर पहले एक बार ज़ोर से उसे घुड़का, छबीली.... और छबीली खड़ी हो गयी अपनी पिछली टाँगों पर। मैंने कहा शुरुआत बुरी नहीं है, सलाम कर रही है। मगर कैसा सलाम कैसी दुआ। लगी गोल-गोल चक्कर काटने, किसी तरह सवार ही न होने दे और गुस्से का यह हाल कि नथने लुहार की भाथी की तरह चल रहे थे। सचमुच बड़ी ज़िद्दी बड़ी बदमाश घोड़ी थी छबीली मगर मैं कौन कम था? मेरा भी खून खौलने लगा। मैंने कहा, इसकी ऐसी की तैसी! अगर आज मैंने इसको बस में न किया तो कुछ भी नहीं किया। यह बदज़ात अगर अपने को शेरनी समझती है तो मैं भी किसी शेर से कम नहीं हूँ! मैं पूरी ताक़त से उसकी गर्दन पकड़े-पकड़े दाँत पीसकर बोला—

'छबीली, तुझे पता नहीं है, कौन आया है तुझ पर सवारी करने! मैं परदुमन हूँ, परदुमन, कान खोलकर सुन ले, तू मुझसे बचकर नहीं जा सकती! वह मुझे अपनी तरफ़ खींचे मैं उसे अपनी तरफ़ खींचूँ। यहाँ तक कि मैं उसकी गर्दन पकड़कर लटक गया और उसने मुझे दस चक्कर खिलाये और कितनी ही कोशिश की कि फेंक दे मगर मैं उसकी गर्दन पकड़कर लटका ही रहा। मुझे अच्छी तरह याद है छबीली के संग करीब एक घण्टे तक मेरी यह रस्साकशी चली और आखिरकार बेचारी थककर खड़ी हो गयी और हाँफने लगी। मैं भी घोड़े की तरह हाँफ रहा था और पसीने से लथपथ था....तबकी बात अब कहाँ? अब थोड़े ही न वह कसबल है। मगर तब तो मैंने छबीली को जेर कर ही लिया, मुँह में लगाम दी और कूदकर नंगी पीठ पर ही सवार हो गया। सवार होकर जब मैंने दोनों ओर से उसे अपनी जाँघों से दबाया तो उसने भी समझा कि हाँ....घोड़ी भी असल मर्द का आसन पहचानती है। और फिर तो वह हवा से बात कर चली। वह दिन था और आज का दिन है, छबीली ने फिर कभी मुझसे रार न की।

ठाकुर परदुमन सिंह दीवान पर निढाल पड़े हुए थे और उनका मन पिछले ज़माने की इन यादों में भटक रहा था मगर तब भी उन्हें इस वक्त की अपनी सुलगती हुई चाह से राहत न मिलती थी और उन्हें सबसे बड़ी हैरानी तो उस वक्त हुई जब एकाएक कौंधे की लपक की तरह उन पर यह बात प्रकट हुई

कि छबीली के उस पूरे प्रसंग में उनके मन की आँखों के सामने छबीली कहीं न थी, थो बस वह अपरूप रूपयष्टि, वह एक अकेली....वह स्वस्थ, यौवनगंधपूरित, मासल नारी-देह....

२ अँगूठी का नग

एक अधेड़ मनिहारिन ने एक युवती की गोरी-गोरी कलाइयों में चूड़ी चढ़ाते हुए साश्रु कण्ठ से कहा—भगवान् भी कैसा अंधा है, कितना निर्दयी !

युवती को स्वभावतः उत्कण्ठा हुई। मुसकराकर बोली—क्यों तो भला ?

मनिहारिन ने आँखें नचाकर कहा—मैं तो वारी गयी तेरी इस मुसकान पर ! कितने भागवाला है वह जिसने तुझे पाया है। पर तू क्या इस घर के लायक है, तुझे तो रानी बनना था रानी....

रूपगर्विता युवती ने अपने रूप की प्रशंसा का रस लेते हुए कहा—अरे छोड़ो भी ! ऐसा क्या है मुझमें ?

मनिहारिन बोली—इतनी भोली न बनो बेटा....तू तो ऐसे पूछ रही है कि जैसे कभी ऐना उठाकर भी न देखा हो तूने !

प्रगल्भ युवती ने अच्छी तरह प्रसंग का रस लेते हुए कहा—मुझे तो कुछ भी नहीं दिखता....वही नाक-कान जो सबके होते हैं....

युवती की बातें मनिहारिन को अच्छी लगीं। लड़की चंचल है। दाना चुगेगी।

मनिहारिन बोली—तू बोलती क्या है, तेरे मुँह से तो मोती झरते हैं! वाह वाह, जी खुश हो गया, कैसी मिठबोली है! जैसा तेरा रूप वैसी ही तेरी बोली। तूने जो कहा, तेरा सील इसी में है। पर मैं तो द्वार-द्वार घूमती हूँ, सबको देखती हूँ, सबका हाल जानती हूँ। यहीं क्या शहर में मैं सबको जानती हूँ, पच्चीस-सत्ताइस बरस से तुम लोगों को चूड़ियाँ पहना रही हूँ बेटा। कलकत्ता, बंबई, डिल्ली, आगरा—सब जगह रह चुकी हूँ। हिन्दू हो चाहे मुसलमान, बड़े से बड़े घरों में मेरी रसाई थी और मैंने एक से एक रूपवाली लड़कियाँ देखी हैं लेकिन सब तेरे आगे पानी भरती हैं। मैं झूठ नहीं कहती, तुझे सचमुच रानी बनना था, यह फटीचर घर क्या तेरे जोग है?....क्या काम करता है तेरा आदमी?

युवती ने जवाब न देने के खयाल से कहा—पर मैं तो सुखी हूँ....

मनिहारिन ने कहा—वैसे तो सभी सुखी हैं बेटा.... भगवान जहाँ डाल दे उसी में सुख मानना चाहिए....तेरा आदमी कोई दूकान करता है?

युवती ने सिर हिलाकर निषेध किया।

मनिहारिन ने कहा—तब क्या नौकरी करता है?

युवती ने सिर हिलाकर स्वीकृति दी।

—कहाँ !

—तहसीली में।

मनिहारिन ने बड़े सांकेतिक ढंग से कहा—तभी !

युवती को मनिहारिन की बात से पीड़ा हुई।

चतुर मनिहारिन ने इस बात को ताड़ लिया। बोली—बुढ़िया की बात का बुरा मत मानना बेटा। मुँह में जो आता है बक देती हूँ। यह निगोड़ी जीभ....

युवती कुछ नहीं बोली और कुछ सोचती-सी खड़ी रही।

मनिहारिन ने चूड़ियों के पैसे लिये और चली गयी।

मगर मनिहारिन को युवती से कुछ ऐसा प्रेम हो गया था कि वह अकसर यहाँ-वहाँ घूमते-फिरते दोपहर को उसके इधर आ निकलती और घंटा दो घंटा बैठकर तरह-तरह की बातें करती। बातें करने में मनिहारिनें यों भी बड़ी प्रवीण होती हैं और फिर इस मनिहारिन की तो बात ही और थी। युवती को भी उससे बात करने में बड़ा रस आता और वह भी खासकर इसलिए कि वह उसको कलकत्ता-बंबई के बारे में बहुत-सी अच्छी-अच्छी बातें बतलाती। युवती का भी बंबई से थोड़ा परिचय था। उसकी बड़ी बहन वहीं ब्याही थी। उसका पति किसी कपड़े की फर्म में गुमाश्ता था और अच्छे-खासे पैसे बना लेता था। वह लोग रहते भी ज्यादा अच्छी तरह थे। उनके एक ही बच्चा था और वह लोग अकसर किसी होटल में जाकर खाना खाते या चाटवाले के यहाँ जाकर चाट उड़ाते। बहन के पास कपड़े भी बहुत अच्छे थे, खूब ही चटक-मटकवाले, सस्ते

जार्जट की रंग-बिरंगी साड़ियाँ, बड़े-बड़े फूलों वाली, चटख़ रंगों की रेशमी साड़ियाँ, ज़री के काम की साड़ियाँ, नये-नये फैशन के ब्लाउज़ और चोलियाँ, ऊँची एड़ी का जूता, खूब चमचमाता हुआ एक हैंड बैग। क्या नहीं था उसके पास। वह जब बन-सँवरकर, ऊँची एड़ी का जूता पहनकर, हैंड बैग हाथ में लेकर निकलती तो बस सड़क पर वही वह नज़र आती। पति को अपनी पत्नी के सौंदर्य का गुमान भी कुछ कम न था। दलाली में आमदनी अच्छी थी ही और जब हाथ में पैसे हों और घर में इतनी सुन्दर पत्नी हो तो कैसे वह खाली हाथ घर लौटे? कभी कोई इतर है तो कभी तेल तो कभी स्नो-पाउडर। सुन्दर पत्नी के कारण दोस्तों की मण्डली में उसका रोब भी काफ़ी था। उसे अपने तुरुप के इक्के की कीमत मालूम हो गयी थी, इसलिए वह अपनी पत्नी की टीमटाम में अपनी तरफ़ से कोई कसर नहीं रहने देना चाहता था। वह जब अपनी पत्नी के संग घूमने निकलता और लोग पलट-पलटकर उसकी पत्नी को देखते तो उसे अद्भुत गर्व की अनुभूति होती। वह लोग सिनेमा भी खूब देखते। हफ्ते में कम से कम एक तसवीर तो देखते ही और कभी-कभी दो-दो और तीन-तीन पर भी नंबर पहुँच जाता।

चंपाकली एक बार दो महीने के लिए अपनी बहन के यहाँ गयी थी। वहाँ से लौटकर जब वह अपने घर आयी तो उसे अपनी ज़िन्दगी एक अंधे कुएँ-सी मालूम हुई। कैसा बीहड़ देस है! न सिनेमा न सर्कस, न घूमना न फिरना, न कुछ न कुछ। बस घर में बंद रहे आओ, रोटी पाये जाओ, फटे कपड़े सिये जाओ। यह भी कोई ज़िन्दगी है! अपने-अपने भाग्य की बात है, नहीं मैं क्या किसी से रूप में कम हूँ? पर कहाँ का रूप

कहाँ का रंग ! इनकी तो इतनी भी समायी नहीं कि दो-चार कपड़े ही ढङ्ग के कर देते। रेशमी साड़ी की कौन कहे, एकलाई धोती तक तो इनसे लायी नहीं जाती। कहते-कहते ज़बान छिल गयी मगर कोई नतीजा नहीं। 'अगले महीने ला दूँगा।' पता नहीं वह अगला महीना कब आयेगा ! मेरी लाश को उसी में लपेट कर आग लगा देना ! भगवान् जाने यह कैसी नौकरी है जिसमें कभी पैसे के दर्शन ही नहीं होते। खाने-पहनने की भी तो एक उम्र होती है और जब वह उम्र निकल गयी तो फिर शौक़ जैसे किया वैसे न किया। मगर इन्हें कौन समझाये, इन्हें तो जैसे कुछ सूझता ही नहीं। सोचते होंगे, क्या कमी है इसे ! सच तो कहते हैं, क्या कमी है मुझे ! खाने को नमक-रोटी मिल ही जाती है, पहनने को छः रुपये जोड़े की धोती ला ही देते हैं, रहने के लिए यह महल है ही—इसके बाद और चाहिए भी क्या !

आदमी अगर दूसरे से अपना मिलान न करे तो कभी दुखी न हो। सारा दुःख मिलान करने में है। मगर आदमी अपने स्वभाव को कैसे बदल दे ? आँख फूट जाय तब हो सकता है। वर्ना आदमी दूसरे को देखेगा तो मिलान करेगा ही। बम्बई से लौटने के बाद चंपाकली ने फिर मानसिक शान्ति नहीं जानी। वह बाहर से खुश दिखने की कोशिश करती मगर भीतर ही भीतर चौबीसों घण्टे कुढ़ती रहती। अपने नसीब को कोसती, अपने माँ-बाप को कोसती। न जाने कैसी-कैसी जवान उमंगें उसके भीतर मचल रही थीं जिन सबके ऊपर एक विराट् सिल-सी रक्खी हुई थी। सीने का घाव नासूर बनता जा रहा था। उसे बम्बई गये तीन बरस से ऊपर हो गया था मगर आज भी वहाँ

की बातें उसे ऐसी याद थीं कि जैसे अभी कल वहाँ से लौटी हो। बम्बई का नाम लेने से उसके दिल में एक टीस-सी उठती थी। उसने सपने में न जाने कितनी बार अपनी बहन को उसके सजे-सँवरे रूप में, सिर से पैर तक चमचम करते देखा था और घबराकर आँख खोल दी थी।

उसकी आँखों में चमक आ जाती जब मनिहारिन बम्बई-कलकत्ता का बखान शुरू करती। चंपाकली को कुछ विचित्र-सी अनुभूति होती जिसमें पीड़ा तो जैसे रहती ही, उपलब्धि का भी एक भाव रहता। जो चीज़ उसे यथार्थ में नहीं मिल पायी थी उसे वह जैसे कल्पना में पा लेती। अगर घाव एकदम हरा नहीं है तो कभी-कभी उसको कुरेदने में भी एक ख़ास तरह का मज़ा मिलता है। लेकिन वह पूरी बात नहीं है। मनिहारिन की बातों ने उसके सोये हुए दर्द को जगाकर उसके मन की आपेक्षिक शान्ति भी छीन ली थी। और फिर दैव दुर्योग कुछ ऐसा था कि चम्पाकली के अब तक कोई बच्चा भी नहीं हुआ था, नहीं तो उसी से अनेक अभावों की पूर्ति हो जाती। बच्चा माँ के जीवन में इतनी बड़ी जगह घेर लेता है कि फिर अभावों के लिए ज्यादा जगह नहीं रह जाती। यहाँ तो मन को अटकाने के लिए चम्पाकली के पास कुछ भी न था। निदान उसका जीवन एक विराट् शून्य बन गया था जिसमें यहाँ से वहाँ तक बस एक डरावना रीतापन मरुस्थल की तरह फैला हुआ था, एक गभीर निशीथिनी उदासी, एक घुटा हुआ हाहाकार....

चतुर मनिहारिन उसी रीतेपन को अपने संकेतों से भर रही थी जिनसे चम्पाकली को हृदय के किसी निगूढ़ कोने में गुदगुदी मालूम होती थी मगर डर भी कम न लगता था।

सबसे ज्यादा डर उसे अपने आप से लग रहा था। मनिहारिन ने जैसे उसके भीतर किसी भिड़ के छत्ते को लग्गी से खोद दिया था और उसका दिमाग़ उन्हीं की भनभन से भर उठा था। गहने-कपड़े, इतर-फुलेल, साज-सिंगार की जो चाहें अब तक उसके अन्दर मूर्च्छित हो चुकी थीं उनको प्रवीणा मनिहारिन ने अपने मंत्र बल से पुनः सप्राण-सचेत कर दिया था और एक-एक करके सब उठ बैठी थीं।

एक दिन मनिहारिन ने चम्पे की एक कली लाकर चम्पाकली के हाथ में रख दी और साथ में एक छोटा-सा पुर्ज़ा।

पुर्ज़े में ठाकुर परदुमन सिंह ने पारसी थिएट्रिकल के अंदाज़ मे अपनी मुहब्बत का राग छेड़ा था—

'चम्पाकली! वाह कितनी प्यारा नाम है जैसे शराब का जाम है! जब से तुमको देखा है अजब इस दिल का लेखा है....' ऐसे ही और भी चार-छः रसात्मक वाक्यों के बाद ठाकुर साहब ने नीचे के मज़मून से उसको अलग करने के लिए एक मोटी-सी रेखा खींच दी थी और नीचे गद्य में लिखा था—तुम जो कुछ चाहो बेखटके मनिहारिन से कह सकती हो।

पुर्ज़े को पढ़कर चम्पा को बड़ा डर लगा। उसने पुर्ज़े को टुकड़े-टुकड़े कर डाला और कुछ न बोली।

मनिहारिन ने जवाब की अपेक्षा भी नहीं की और चली गयी।

फिर और कुछ दिन बीते और एक रोज़ मनिहारिन एक क़ीमती नगदार अँगूठी और कान के बुन्दे लेकर उपस्थित हुई। चम्पा की तरसी हुई आँखें उन्हें देखकर निहाल हो गयीं। मगर उसकी हिम्मत न पड़ी कि उन्हें हाथ में लेकर देखे। मनिहारिन उन्हें हथेली में लेकर उसकी ओर बढ़ाये हुए थी और चम्पा ललचायी हुई आँखों से उन्हें देख रही थी मगर छूते डर लगता था कि कहीं बिच्छू डंक न मार दे!

उसका बस चलता तो उस डाइन का मुँह झुलस देती।

तभी उस डाइन ने कहा—ले लो, बेटा, ले लो, उन्होंने बड़े प्यार से तुम्हारे पास भेजा है....डरो मत, ठाकुर साहब का अकबाल बड़ा है....

चम्पा का बस चलता तो वह झाड़ू मारकर इस डाइन को घर से बाहर कर देती—बड़ा आया तेरा ठाकुर! क्या समझा है उसने मुझे!

पर कहाँ, उसका शरीर तो जैसे निर्जीव हो रहा था, एकदम बेजान, लस्त, जैसे किसी ब्रह्मदैत्य ने उसकी सारी ताक़त चूस ली हो। भूखे के आगे परोसी हुई थाली रक्खी थी मगर उसके हाथों में इतनी ताक़त न थी कि एक लुक़मा उठाकर मुँह में डाल ले। और न यही कि उस ज़हरीली थाली को लात मारकर उठ जाये।

चम्पा रोने लगी। मनिहारिन ने मातृवत् दुलार से उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—तू भी कैसी है? कोई तो तुझे प्यार करता है और तू रोती है! ले ले, किसी के प्यार की

भेंट को ठुकराया नहीं जाता।

चम्पा नासमझ बच्ची नहीं है, जवान औरत है। मगर सोचो....सोचो....कैसे ठुकरा दे वह इस अँगूठी को जिस पर आँखें नहीं ठहरतीं ! बड़ा क़ीमती नग होगा ! और नये बंबइया फैशन के ये बुन्दे जो सपने में भी मोहिनी को नहीं नसीब हो सकते ? यकबयक कैसे ठुकरा दे ? कैसे ?!

उसके भीतर की चिरसंचित, मुमूर्षु वासनाएँ विद्रोह कर रही थीं—

और वह असहाय फफक-फफककर रो रही थी और मनिहारिन मातृवत् दुलार से उसके सर पर हाथ फेरे जा रही थी और उसके दूसरे हाथ की हथेली पर अँगूठी का नग साँप की आँख की तरह चमक रहा था और वह नयी चाल के बंबइया बुन्दे कनखियाँ मार रहे थे—

और आख़िरकार मनिहारिन ने बहलाकर-फुसलाकर, ज़ोर-ज़बर्दस्ती करके दोनों चीज़ें चम्पाकली के हाथ में पकड़ा दीं और तुरन्त बाहर निकल गयी। चम्पाकली की हथेली ऐसी जल रही थी कि जैसे उसने अंगारे पकड़ रक्खे हों। वह उसी तरह कुछ देर तक स्तब्ध, अपलक बैठी रही, फिर एकाएक हड़बड़ाकर उठी और ले जाकर दोनों चीज़ें कपड़ों की तहों में छिपाकर अपने स्टील ट्रंक में रख दीं और ताला लगा दिया।

ठाकुर साहब को हरी झण्डी मिल गयी और उनकी मेल ट्रेन धड़धड़ाकर चल पड़ी। कभी बेलबूटेदार बनारसी साड़ी है तो कभी इत्रदान तो कभी जूतियाँ तो कभी और कुछ—और यह

सभी चीज़ें उत्तरोत्तर कम होते जा रहे मान-मनौवल के बाद एक-एक करके चम्पा के ट्रंक में पहुँचती गयीं और उसकी ताले की सतर्कता भी उसी अनुपात में बढ़ती गयी।

चम्पा ने अपने इस प्रेमी को नहीं देखा था मगर मनिहारिन के चित्रमय वर्णन ने इस कमी को काफ़ी दूर कर दिया था और धीरे-धीरे चम्पा के मन में भी अगर प्रेम नहीं तो कुतूहल का संचार अवश्य हो गया था....और तब एक दिन रात को जब चम्पा का आदमी किसी काम के सिलसिले में दौरे पर गया हुआ था, मनिहारिन चादर ओढ़ाकर चम्पा को ठाकुर साहब के पास ले गयी। चम्पा का दिल सड़क कूटने के इंजन की तरह धड़धड़ कर रहा था।

कमरे में पहुँचकर जब उसने अपनी चादर अलग की तो वहाँ का वैभव देखकर ठगी-सी खड़ी रह गयी। कमरे में दिन की तरह रोशनी थी, झाड़-फ़ानूस लटक रहे थे, कमरे भर में एक मोटा-सा बेशक़ीमत क़ालीन बिछा हुआ था, मोटे मोटे गद्दों के सोफ़े पड़े थे, एक बहुत बड़ा-सा और खूब ही ऊँचा पलंग था जिसके मोटे-मोटे पायों में बड़ी बारीक नक़्क़ाशी करके शेर का मुँह बनाया गया था। पलंग से लगी हुई एक ठोस शीशे की बड़ी खूबसूरत मेज़ थी जिस पर शराब और सोडे की बोतलें और प्याले और शीशे की एक छोटी-सी सुबुक बाल्टी में बर्फ़ रक्खी थी। एक बड़ा-सा, दैत्याकार वार्डरोब दीवार से सटा खड़ा था। दीवार पर एक तरफ़ ठाकुर साहब के दिवंगत पिता ठाकुर पुरन्दर सिंह का एक विराट् तैलचित्र सुनहरे फ्रेम में जड़ा हुआ टँगा था और उसके ठीक सामने दूसरी दीवार पर ठाकुर साहब का अपना चित्र था, जवानी के दिनों का जब वह

अब की तरह सफ़ाचट नहीं, बिच्छू के डंक जैसी नुकीली और खौफ़नाक मूछें रखते थे, मगर वह भी सजती थीं उनके चेहरे पर—वाह कैसा रोबीला चेहरा है।

इनके अलावा दीवारों पर और भी चित्र थे। ठाकुर साहब नारी सौन्दर्य के अनन्य उपासक थे। बड़े मनोयोग से उन्होंने यूरोपीय और भारतीय सुन्दरियों के ये चित्र संग्रह किये थे। परन्तु रति के साथ-साथ वैष्णव भक्ति भी उनके चरित्र का एक आवश्यक अंग थी। फलतः ठाकुर साहब ने उन सुन्दर रमणियों के साथ शेषशायी भगवान विष्णु और यमुना के जल में नहाती हुई गोपियों के कपड़े चुराकर कदंब की डार पर बैठे हुए नटखट कन्हैयाजी के 'जर्मनी में छपे' चित्रों का ऐसा अनोखा, ऐसा सहज-स्वाभाविक मिलाप कर दिया था कि मन मुग्ध हो जाता था। ठाकुर साहब में सुरुचि की कमी न थी और ये चित्र भी उनकी सुरुचि का ही पता दे रहे थे। बात यह थी कि ठाकुर साहब को नंगी दीवार बहुत बुरी लगती थी, इसलिए उन्होंने दीवार के चप्पे-चप्पे को एक न एक चीज़ से ढँक दिया था। कुछ तो जैसे तसवीरें थीं मगर उससे ज़्यादा संख्या में थे उनके शिकार के मार्के—बहुत से हिरन, साँभर, शेर, चीते, जंगली भैंसे जो अपनी पथरायी आँखों से इस नये शिकार को देख रहे थे, जैसे कहना चाह रहे हों कि घबराओ नहीं, एक दिन तुमको भी हमारी बग़ल में जगह मिलेगी! एक दिन हमारी ही तरह तुम भी दीवार पर चुनी जाओगी!

चम्पाकली की नज़र उन पर गयी और वह चौंक पड़ी।

तभी उसे सुनायी दिया—आओ आओ, डरो मत, वह सब बेजान हैं।

यह एक भारी, फटी हुई आवाज़ थी जो किसी भेड़िये की ग़ुर्राहट के ज़्यादा पास थी। चम्पा को और भी डर मालूम हुआ। वह देहलीज़ के पास ही सहमी हुई खड़ी थी और सकपकायी हुई नज़रों से कमरे को देख रही थी। एक दीवार पर दो तलवारें और एक ढाल पुरानी रजपूती शान के साथ टँगी थीं। उन्हीं के पास दो राइफ़लें भी उसी तरह नीचे कोण बनाती हुई टँगी थीं।

उन्हें देखकर चम्पाकली के मन-हिरने का डर कम होने का कोई कारण न था और वह वैसी ही, स्तब्ध मृगी-सी, जड़वत् खड़ी रही। वह डाइन मनिहारिन कमरे तक तो उसके संग आयी थी मगर फिर न जाने कहाँ छूमंतर हो गयी थी!

चम्पा के पैर वहीं के वहीं जमे थे। यह वैभव उसने पहले कभी न देखा था।

उधर ठाकुर परदुमन सिंह, जो अंगूर की शराब योंही काफ़ी पिये हुए थे, अब चम्पा के यौवन की मदिरा पीकर बेसुध होने लगे। इसके पहले उन्होंने कभी इस रमणी को इतने पास से न देखा था। वाह, कैसा सेब के जैसा रंग, कैसा साँचे में ढला हुआ शरीर! यह रूप यह यौवन लेकर बेचारी उस घसियारे के पास पड़ी है, तेरी भी लीला विचित्र है भगवान्! उफ़, कैसी सजीली देह है, जो बुड्ढे को भी एक बार जवान कर दे—और जवान को बुड्ढा!

उनकी अनुभवी पृथुल जंघाएँ उस अपरूप नारी-देह के लिए जैसे कराह उठीं और उनके शरीर का जोड़-जोड़ टूटने

लगा। वह अब और बैठे न रह सके। उठ खड़े हुए और अपने स्वर में मिश्री घोलते हुए बोले—डरो मत, डरो मत, इसे अपना ही घर समझो....

बड़ी मुशकिल से चम्पा ने नज़र उठायी और ठाकुर साहब से उसकी आँखें चार हुईं, उन आँखों से, जिनमें वासना शराब के प्याले की तरह उफना रही थी, जो एकटक उसकी देह पर गड़ी हुई थीं।

चम्पा लजा गयी और जैसे अपने ही से अपना अंग चुराने लगी। ठाकुर साहब उसकी ओर बढ़े आ रहे थे। उनके पाँवों में ईषत् कम्पन था। शराब के असर से उनका चेहरा भी हलका सिंदूरी हो रहा था।

ठाकुर साहब की उम्र अब वैसी कम न थी लेकिन उनका दावा शायद सही था कि वह अब भी दस जवानों पर भारी हैं, चाहे जब आज़माकर देख लो। उनका वह ऊँचा-पूरा, हट्टा-कट्टा शरीर अब उतना कसीला तो न था मगर दम-ख़म अब भी वही थे। उन्होंने अपनी जवानी के दिनों में जो दण्ड-बैठक लगायी थी, वह अब भी उनके शरीर को सँभाले हुए थी।

उन्हें देखकर चम्पा को थोड़ा डर लगा, और वह हलके-से काँप उठी लेकिन वह अरुचि से नहीं, संस्कारवश, नर के प्रति नारी का सहज निवेदन, उस पुरातन वन्य युग की स्मृति जब नर के लिए नारी शिकार थी और नारी के लिए नर शिकारी।

तभी आकर ठाकुर साहब ने उसकी कलाई पकड़ ली और उसे अपनी तरफ़ खींचा—

जो बढ़कर उठा ले मीना उसी का है!

३ गड़े मुर्दे

आसपास के सौ-पचास गाँवों में ठाकुर परदुमन सिंह का बड़ा दबदबा था। उनके गुस्से से लोग थरथर काँपते थे। और इतना ही नहीं, जितना बुरा उनका ग़ुस्सा था उतनी ही बुरी बल्कि उससे भी बुरी उनकी निगाह थी। ठाकुर साहब पुराने ज़मींदार थे, यह सारा इलाक़ा उन्हीं का था। भले अब ज़मींदारी न रह गयी हो मगर दबदबा तो वही था। जल में रहकर मगर से बैर नहीं किया जाता।

ठाकुर साहब से लोग मन-ही-मन काँपते रहते थे कि न जाने कब किसके घर में दाग़ लग जाय—इस बदज़ात का क्या ठिकाना! ठाकुर साहब जब घूमने के लिए बाहर निकलते तो सब जवान बहू-बेटियाँ घरों में छिप जातीं, कुछ ऐसा ही अक़बाल था उनका। किसी की चूँ करने की हिम्मत न थी। न जाने क्या करवा दे! लोग उनसे डरते थे, नफ़रत करते थे मगर मुँह खोलने की हिम्मत न करते थे। उनका नामर्द गुस्सा

कनफुसकियाँ बनकर हवा में खो जाता था। कुछ लोग कुली-कबाड़ी, कुछ लोग बनिये-बक्क़ाल, कुछ लोग मुन्शी-मुहर्रिर, सभी जतन से मुँह में हड्डी दबाये हुए, किसे पड़ी है कि आफ़त मोल ले। भगवान् आप ही दुष्ट को दण्ड देंगे!

अब ठाकुर परदुमन सिंह के चेहरे पर उनकी वह ज़ालिम, बिच्छू के डंक-जैसी मूछें न थीं और चेहरा सफाचट था जिस पर कुछ तो सेहत और बहुत कुछ शराब के कारण एक सिन्दूरी कूँची-सी फिरी रहती थी; मगर तब भी लोग डरते रहते थे क्योंकि डर कहीं बाहर से नहीं इंसान के दिल के भीतर से आता है। ठाकुर परदुमन सिंह का डर लोगों के भीतर बुरी तरह घर किये हुए था वैसे ही जैसे बूढ़ी दादियाँ बहुत बचपन से ही भूत का डर हमारे दिलों में बो देती हैं। ठाकुर परदुमन सिंह का डर भी कुछ ऐसा ही भूत का डर था। उनका बस चलता तो दिल के डेढ़ पाव गोश्त के साथ भी वह इस डर को निकाल फेंकते लेकिन वह काम इतना आसान न था और उन्हें रावल की याद थी, अच्छी तरह थी—गो बात पुरानी हो गयी थी मगर हिम्मत के धनी लोग जो एक बार ग़रीब के दिल में जगह पा जाते हैं वह जल्दी मरते नहीं क्योंकि उनके बाद उनकी कहानी जी उठती है....

रावल का वह ऊँचा सर, चौड़ी पेशानी, गौर मुख-मण्डल, तेजोद्दप्त आँखें, बलिष्ठ जवान शरीर; उसका वह हर वक्त धीमे-धीमे मुसकराते रहना, सबसे हँसकर बोलना, सबके दुख-दर्द में शरीक रहना—आज भी लोगों को उसकी याद थी

और काँटे की तरह चुभती थी। किसी के घर में रसद न हो तो रावल रसद पहुँचा देगा; किसी के यहाँ ग़मी हो गयी हो और मिट्टी न उठ रही हो तो मिट्टी उठाने के लिए रावल अपनी टोली के साथ हाज़िर है; किसी आवारे ने कहीं किसी लड़की को छेड़ा तो रावल ने उसकी मरम्मत की; पुलिस ने किसी का झूठा चालान किया (जो कि पुलिस का एक आम क़ायदा है) और रावल उस ग़रीब की हिमायत में खड़ा है; आसपास कहीं कोई बीमार पड़े और फिर रावल को देखिए! रावल की जानकारी में यह कभी नहीं हो सकता कि किसी का कोई ज़रूरी काम थोड़े-से पैसों के लिए अटक जाय, जहाँ से भी हो रावल माँग-जाँचकर जरूर काम निकाल देगा। वह यों कि उसकी नौजवान टोली में दो-एक पैसे वाले भी हैं जो रावल को सच-मुच पूजते हैं, रावल का वाक्य जिनके लिए आप्त-वाक्य होता है, जो रावल के कहने पर एक बार आग में भी कूद जाते। और जो सच पूछिए तो पास-पड़ोस के तीस-चालीस गाँवों में सभी के दिल में रावल की यही जगह थी।

जितना स्नेही उतना ही साहसी, जितना मृदु उतना ही गंभीर, जितना सेवा-परायण उतना ही निश्छल, बच्चों में बच्चा, जवानों में जवान, बुड्ढों में बुड्ढा—वैसा तो आदमी ही फिर देखने में नहीं आया।

उसका अपना कोई न था सिवाय एक बुढ़िया माँ के। मगर वह सबका था। सब उस पर अपना अधिकार समझते थे और अपनी मुसीबत लेकर सबसे पहले उसी के पास दौड़ते थे।

रावल था किसी ऊँचे जागीरदार कुल का ही बेटा मगर पता नहीं कैसे उसकी प्रवृत्ति कुछ दूसरे ढङ्ग की हो गयी।

दूसरों को अपने ताश-गँजीफ़े, नाच-रंग, सिनेमा-बाइस्कोप, इतर-फुलेल से ही फ़ुर्सत न मिलती और रावल था कि इन चीज़ों से उसे कोई वास्ता ही नहीं। वह अपने कपड़े पहनता सीधे-सादे ढङ्ग से रहता। नतीजा था कि अपने भाई-बहनों से ज़्यादा नौकर-चाकरों के लड़कों से ही उसकी पटती थी। माँ-बाप, चाचा-चाची, घर के जितने बड़े-बूढ़े थे वह सभी इस चीज़ को बहुत बुरी निगाह से देखते और रावल को बराबर नसीहतें मिला करतीं और नसीहतों से काम न चलता तो डाँट-फटकार। मगर सब बेसूद, बल्कि यों कहें कि रावल पर इसका कुछ उलटा ही असर हुआ। उस्तरे और चाक़ की बात और है मगर मुनिया या कल्लू या रामू के संग खेलने से कैसे किसी की नाक कटती है, यह बात उसकी समझ में नहीं आयी और शायद उसकी समझ में आने की बात यह थी भी नहीं क्योंकि अभी वह बच्चा था और जब वह बड़ा हुआ और उसने समझा कि यह तो किसी दूसरी ही नाक की बात है तब तक यह दूसरी नाक उसको कोढ़ से गलती हुई दिखाई पड़ने लगी थी।

रावल का ठाकुर परदुमन सिंह से कोई दूर का रिश्ता भी था, लेकिन क़िस्मत का कुछ ऐसा खेल हुआ कि ठाकुर साहब के ख़िलाफ़ बग़ावत का सेहरा रावल के सर बँधा। लोगों के अंतस् में घुटता हुआ विद्रोह अँगड़ाई लेने लगा।

रावल के आने के पहले ये सब गाँव मुमूर्षु पड़े थे, जैसे कोई जान ही न हो। ठाकुर परदुमन सिंह खुले बंदों मनमानी-हरजानी करते थे, हारी-बेगारी सभी थी, जिस आदमी को चाहते थे हवेली पर पकड़ बुलाते और मुर्ग़ा बनाते थे, कोड़े लगवाते थे, दिन-दिन भर धूप में खड़ा रखते थे, जिस लड़की को चाहते

थे उड़वा देते थे, कोई उनका हाथ पकड़नेवाला न था कि ऐसा क्यों करते हो। वही किसान जो अपनी लाठियों से जंगल के बाघ का भुर्ता बना देते थे, 'खूनी हवेली' के इस बाघ से थरथर काँपते थे।

रावल ने आकर उनके अन्दर हिम्मत फूँकी। वह घर-घर घूमा, चुपके-चुपके लोगों को संगठित किया, उनको बतलाया कि डर बहुत बुरा साथी है, उसको अपने से दूर करो। इसमें शर्म की कोई बात नहीं है कि तुमको डर मालूम होता है मगर उससे लड़ो, अपनी हिम्मत का भरोसा करो....

और फिर एक रोज़ गाँव के मैदान में उसने चार पाँच सौ किसानों को बटोरा और फिर उस सोये हुए तहसीली गाँव में पहली बार एक आज़ाद निडर बोल सुनायी दिया, जैसे मुर्गे ने बाँग दी, जैसे शेर दहाड़ा।

इधर शेर दहाड़ा तो उधर भी शेर जागा और उसने हैरानी और गुस्से से अपने चारों तरफ़ निगाह दौड़ायी और यह जानना चाहा कि वह कौन है जो उसके राज में घुस आया है।

ठाकुर परदुमन सिंह बेवकूफ़ आदमी न थे। उन्होंने हवा के इस रुख़ को पहचाना और उनकी त्योरियों में बल पड़ गये। जो कभी उनके इलाके पर नहीं हुआ, वह अब होगा! उनके बाप-दादों की इस भूमि पर!

और एक क्रूर-कुटिल हँसी उनके चेहरे पर खेल गयी— बहुत पाठ पढ़ाया है तुमने रावल, पर यहाँ तुम्हारी दाल न गलेगी। यह काँग्रेस के बाप की नहीं मेरी ज़मीन है, मेरे बाप

की ज़मीन है, यहाँ जो सर उठायेगा उसका सर तोड़ दिया जायेगा !

ठाकुर परदुमन सिंह को अपने पराक्रम पर पूर्ण विश्वास था, उनका वह पराक्रम जिसकी परंपरा उनके प्रपितामह ठाकुर गजेन्द्रसिंह से शुरू होती थी जिन्होंने सन् सत्तावन में बाग़ियों के ख़िलाफ़ गोरों का साथ दिया था और जिन्हें अपनी उन्हीं ख़िदमतों के सिले में ये गाँव अता फ़रमाये गये थे। उस चीज़ के किस्से ठाकुर परदुमन सिंह छुटपन से ही घर में सुनते आ रहे थे। बग़ावत वह थी ! और जब हमने उसको खोदकर यहाँ गाड़ दिया तो ये लोग किस खेत की मूली हैं !

खूनी हवेली के ठीक सामने अब भी वह बूढ़ा बरगद खड़ा था जिसकी शाखों पर बीसियों बाग़ी झूले थे। उस बरगद से परदुमन को छुटपन में बड़ा डर लगता था क्योंकि उस पर जिन्न का डेरा था।

कई बार यह सवाल उठा कि उस बरगद को कटवा दिया जाय मगर ऐसा नहीं किया गया क्योंकि बाग़ियों को नसीहत करने के लिए उसका वहाँ पर होना ज़रूरी था। क्या ठिकाना कि कब नये बाग़ी पैदा हो जायँ !

छुटपन में तो परदुमन को उधर ताकने में भी डर मालूम होता था, उसे बरगद की शाखों से फुलझड़ियाँ छूटती नज़र आतीं। मगर जैसे-जैसे परदुमन बड़ा हुआ और उसकी अक़्ल में पुख़्तगी आयी वैसे-वैसे यह बात भी उसकी समझ में आने लगी कि जो मर जाता है वह पूरी तरह मर जाता है। यहाँ तक कि परदुमन जब जवान हुआ तब न जाने कौन उस जल्लाद बरगद की एक जवान टहनी लाकर उसके सीने में लगा गया

और तब वह जिसे देव और जिन्न से डर लगता था, खुद एक देव एक जिन्न बन गया और लोग उससे डरने लगे।

और अब यह कल का छोकरा उसी परदुमन को चुनौती रहा था, ज़रा इसकी हिम्मत तो देखो!

बहरहाल सन् सैंतिस के चुनाव आने-आने तक उस कल के छोकरे ने अपने इलाक़े में एक अच्छी-खासी हलचल खड़ी कर दी थी। वह मरघटी इलाक़ा जहाँ पत्ता भी नहीं खड़कता था और लोग मौत की-सी नींद सोये हुए थे, अब एक नयी आनबान से जाग रहा था। हारी-बेगारी से अब लोग जा-ब-जा इनकार करने लगे थे, दो-एक जगह कारिन्दों की अच्छी पिटम्मस भी हुई थी, किसानों में परस्पर भाई-चारा बढ़ा था, लोगों के दिलों में एक हिम्मत थी और जोश था और तैयारी थी, कांग्रेस का आज़ादी का संदेसा घर-घर पहुँच रहा था। बरगद की जड़ों की तरह रावल लोगों के दिलों में दूर-दूर तक घर किये हुए था।

ठाकुर साहब को ज़माने की यह रविश देखकर इन्तहाई परेशानी थी। रात की रात उनको नींद न आती। मेरे बाप-दादों की ज़मीन पर यह क्या हो रहा है? जो बातें आज तक कभी इस ज़मीन पर नहीं हुईं, अब क्या मेरी ही अमलदारी में होंगी? क्या मैं सचमुच अयोग्य हूँ? क्या मुझे राज करना नहीं आता? यह सब इसी हरामज़ादे रावल की कारस्तानी है! इसके आने के पहले यहाँ सब ठीक था।

चुनाव में कांग्रेस ने उस क्षेत्र से रावल को खड़ा किया और ठाकुर परदुमनसिंह जागीरदारों की ताक़त के बल पर और अँगरेज़ कलक्टर के इशारे पर स्वतन्त्र उम्मीदवार के रूप में खड़े हुए।

ठाकुर साहब को हुकूमत का बल था, अपने पैसों का बल था, पुश्तहापुश्त चले आते हुए अपने दबदबे का बल था और अपने और दूसरे जागीरदारों के गुर्गों का बल था।

रावल के पास बस अपनी सेवाओं और लोगों के प्रेम का बल था। उसके पास पैसे नहीं थे कि लाखों की तादाद में रंग-बिरंगे पर्चे और पोस्टर छपवा सकता, लारियाँ दौड़ा सकता, चौधरियों की हथेली गरम कर सकता, खुले बाज़ार वोट ख़रीद सकता।

लेकिन तो भी रावल मंज़िलें मारता आगे बढ़ा जा रहा था। काम करनेवालों की तो उसके पास जैसे पूरी फ़ौज ही थी, ज़रूरत भर पैसे भी न जाने कहाँ से जमा हो जाते थे।

उधर ठाकुर परदुमन सिंह पानी की तरह रुपये बहा रहे थे मगर एक आदमी उनको ऐसा न मिलता था जिसका वह भरोसा कर सकें। बेचारे खीझ-खीझकर रह जाते थे मगर कोई चारा न था। रावल सरीहन् मैदान मारे लिये जा रहा था और बेचारे ठाकुर परदुमनसिंह टुकुर-टुकुर ताक रहे थे। उनकी यह बेबसी झुँझलाहट बनकर उनके काम करनेवालों पर बरसती जिससे बात और भी बिगड़ जाती। उनके रहे-सहे मददगार भी ठण्डे पड़ते जा रहे थे। किनाराकश होने की तो उन्हें हिम्मत न

थी, मगर भीतर ही भीतर उनका सारा उत्साह ठण्डा पड़ता जा रहा था। ठाकुर साहब के सामने तो वह बड़ी दून की हाँकते और कुछ ऐसी तसवीर पेश करते कि जैसे उन्होंने सिरे से दुश्मन का सफ़ाया कर दिया हो। मगर वही लोग पीठ पीछे डटकर ठाकुर परदुमन सिंह की बुराई करते और अपने भाग्य को कोसते कि ऐसे चरित्रहीन कुकर्मी आदमी के लिए उनको काम करना पड़ रहा था। सब तो थूकते हैं उसके नाम पर! किस मुँह से कोई उसके लिए वोट माँगे!

नतीजा यह था कि ठाकुर साहब का पैसा परनाले की राह बहा जा रहा था। लम्बी-चौड़ी फ़र्ज़ी रिपोर्टों के आधार पर लोग पैसे ले आते थे और गुलछर्रे उड़ाते थे। धीरे-धीरे ठाकुर साहब से भी यह बात छिपी न रही कि उनकी नाव डूब रही है।

चुनाव के दिन पास आते जा रहे थे। ठाकुर साहब सिर पकड़कर बैठ गये, यह तो डूब मरने की बात है। अपने ही इलाक़े में मेरा यह अपमान! वह इतने ज़ोर से अपने बाल तान रहे थे कि लगता था एक-एक बाल नोचकर फेंक देंगे।

ठाकुर परदुमन सिंह के हाथ के तोते उड़ गये जब उन्होंने चुनाव के तीन रोज़ पहले अचानक सुना कि किसी ने (उफ़, किस निर्दयी ने!) रावल की हत्या कर दी!

जनता की ओर से एक बार काफ़ी ज़ोर से यह माग उठी कि चुनाव स्थगित किया जाय और रावल की हत्या की खुली जाँच हो। पर कोई नतीजा न निकला। कलक्टर अँग्रेज़,

गवर्नर अंग्रेज़। चुनाव भी स्थगित नहीं हुआ और रावल की हत्या की खुली जाँच भी नहीं हुई।

मगर इसमें बेचारे ठाकुर परदुमन सिंह का क्या बस! अतः उन्होंने अपने दिवंगत प्रतिद्वंद्वी के अनेकानेक चारित्रिक गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए एक अत्यंत हृदय-द्रावक शोक-वक्तव्य दिया और निर्विरोध चुन लिये गये।

यह सन् सैंतिस की बात है।

इसके बाद षड् ऋतुओं का चक्र पूरे दस बार घूमा और वह पावन घड़ी आयी जब देश को आज़ादी मिली। गोरों का मुँह काला हुआ और अपने आदमी, जिनके साथ अभी कल तक हम उठा-बैठा करते थे, राज करने लगे। कहने का मतलब कि दुनिया ही बदल गयी—और उसके साथ ही ठाकुर परदुमन सिंह भी। वही ठाकुर परदुमन सिंह जो कभी कांग्रेस के इतने कट्टर दुश्मन थे, अब उसके उतने ही कट्टर दोस्त बन गये थे। इस तरह के बहुत-से मौलिक परिवर्तन देश में हुए। फलतः जब षड् ऋतुओं का चक्र और पाँच बार घूमा और आम चुनाव आये तो वही व्यक्ति जो पहली बार कांग्रेस के अपने ही आदमी रावल की लाश पर पैर रखकर विधान सभा में पहुँचा था, इस बार बड़े प्रेम से कांग्रेस के टिकट पर विधान सभा में पहुँच गया और इसमें किसी को कुछ भी अस्वाभाविक नहीं लगा। कांग्रेस की कीर्ति और ठाकुर साहब के अपने पराक्रम से इस बार भी उनका चुनाव निर्विरोध हुआ।

४ बाबू चन्द्रिका प्रसाद का ग़ुस्सा

इधर कुछ दिनों से चन्द्रिका को अपनी पत्नी चम्पाकली के रंग-ढंग कुछ बदले हुए नज़र आते थे। उसकी त्योरियों में हमेशा बल पड़े रहते, वह कभी पति से सीधे मुँह बात न करती, जब बात करती तब एक न एक ताना, और ताना भी क्या वही हरदम का झींखना—काम करते-करते मरी जाती हूँ। एक शौक़ कभी पूरा न हुआ। जवानी बर्बाद हो गयी! पैसे से तो भेंट नहीं होती। पता नहीं क्या पहाड़ ढकेलते हैं महीना भर!

यह नहीं कि पहले ऐसी बातें न होती थीं। होती थीं मगर यह था कि आगे-पीछे बदली छँट जाती थी और अब तो एक काली चट्टानी घटा जैसे हमेशा के लिए चेहरे पर पड़ाव डालकर बैठ गयी थी।

बहुत बार चन्द्रिका को अब वक़्त पर खाना भी न मिल पाता और उसे भूखे पेट जाना पड़ता।

धीरे-धीरे कुछ बातें भी घूम-फिरकर चन्द्रिका के कानों में पहुँची। चन्द्रिका ने उन पर यक़ीन नहीं किया मगर आसानी से झटककर उन्हें अपने से दूर भी नहीं कर सका और जैसे फाँस अगर भीतर ही टूट जाय तो गड़ती रहती है वैसे ही वह बातें उसके सीने में गड़ती रहीं। चन्द्रिका ग़रीब सीधा आदमी था मगर उसकी भी अपनी इज़्ज़त थी और कोई उसकी स्त्री के बारे में ऐसी-वैसी बात कहे यह उसे मंजूर न था। दो-एक लोगों से तो उसकी मारपीट होते होते बची। मगर तब भी बातें कम न हुईं, बस इतना हुआ कि लोग अब उससे कुछ न कहकर, आपस में कनफुसकियों में, मगर उसको सुना-सुनाकर बातें कहने लगे।

—भगवान् कभी ग़रीब आदमी को सुन्दर स्त्री न दे !

—यह रूप यह जवानी, इसका बोझ उठाने की सकत भी तो हो किसी में !

—किसी को दोष देना ठीक नहीं। हौसले किसके दिल में नहीं होते !

—ठाकुर साहब की निगाह से किसी हसीना का बचना ज़रा मुशकिल ही समझो !

—बड़ी खैरियत है यार कि मेरी बीबी कलूटी है, मेरे सिवा कोई उसकी तरफ़ आँख उठाकर देखेगा भी नहीं और मैं भी यही समझो कि भाँवरों की लाज ढो रहा हूँ !

इसी तरह की और भी न जाने क्या बातें चन्द्रिका के कानों में पिघले हुए गर्म सीसे की तरह पड़तीं। बहुत ही ममा-

न्तक पीड़ा होती। किसी काम में जी न लगता। सोते-जागते हर समय वह अपने सीने पर एक सिल-सी रखी हुई महसूस करता। बात झूठ है कि सच, कैसे मालूम हो? इसी चिन्ता में पन्द्रह रोज़ के भीतर-भीतर उसकी आँखों के नीचे गड्ढे पड़ गये और चेहरा ऐसा निकल आया कि जैसे बरसों का मरीज़ हो।

एक रोज़ वह तहसीली से दोपहर के क़रीब दो ही बजे घर लौट आया। देखा, चम्पा साफ़-साफ़ उजली-उजली धोती पहने बैठी है। चम्पा भी पति को देखकर खिसिया-सी गयी। बात यह थी कि चन्द्रिका कभी शाम के पहले घर न लौटता था। आज यह क्या बात हो गयी!

चम्पा बोली—अरे आज अभी से कैसे आ गये?

चन्द्रिका ने बहाना किया—कचहरी का एक ज़रूरी काग़ज़ भूल गया था। उसी के लिए आना पड़ा।....तुम कहीं जा रही हो क्या?

चम्पा ने कहा—हाँ, सोचती थी किरन यहाँ हो लूँ। बहुत दिन से गयी भी नहीं और आशा की मौसी कहती थी इन दिनों बेचारी की तबियत भी खराब है....मगर अब नहीं जाती....

चन्द्रिका ने झूठ-मूठ कुछ काग़ज़-पत्तर टटोले और एक बादामी रङ्ग का काग़ज़ उठाकर चलते हुए बोला—नहीं-नहीं, हो आओ। मैं भी जा रहा हूँ।

चन्द्रिका चला गया तो चम्पाकली ने इत्मीनान की एक लम्बी साँस ली।

इसके बाद फिर बारह-चौदह रोज़ बीत गये और इसी तरह दिन बीतते रहे। संदेह के दिन, ज़हर के दिन। मगर चन्द्रिका ने अपने किसी व्यवहार से चम्पा को अपने मन की थाह नहीं लगने दी। पर अब उसके मन में चोर बैठ गया था। चम्पा के सन्दूक़ का वह भारी-भरकम ताला, जो सदा इतनी सतर्कता से बन्द रहता था, अब उसका ध्यान अपनी ओर खींचने लगा। इसके भीतर आख़िर है क्या जो एक मिनट के लिए इसका ताला अलग नहीं होता! आख़िर ऐसा कौन-सा ख़ज़ाना इसके भीतर बन्द है!

और तब एक रोज़ आधी रात को चुपके से चम्पा के सिरहाने से ताली उठाकर चन्द्रिका ने उस संदूक को खोला.... और उसके पाँव लड़खड़ा गये, कि जैसे वह संदूक़ एक अंधा ग़ार हो और चन्द्रिका उसमें गिरा जा रहा हो—नीचे.... नीचे....नीचे। मौत की तलहटी तक।

चन्द्रिका ने चुपके से ताला बन्द किया और जाकर लेट रहा। मगर नींद कहाँ। इसी तरह बेचैन करवटें बदलते सुबह हो गयी। मगर चन्द्रिका ने चम्पा से कुछ भी नहीं कहा, कुछ भी नहीं पूछा। कहने-सुनने को उसमें था भी क्या। मगर एक अंधड़ उसके दिमाग़ में चल रहा था—मैं ग़रीब आदमी हूँ छोटा आदमी हूँ तो क्या मेरी कोई इज़्ज़त नहीं? मेरी बीवी भी क्या किसी के साझे की खेती है! मैं सरे बाज़ार नंगा करूँगा बदज़ात को, जो भी हो....

मई-जून के दिन थे। आसमान से आग बरस रही थी।

कोई घर से निकलने की हिम्मत न कर सके, ऐसी आग।
सड़कें निचाट सूनी थीं। दिन के दो बजे रास्तों पर वह सन्नाटा था जो रात के दो बजे भी क्या होगा।

चन्द्रिका (कैसा व्यंगपूर्ण नाम !) तो जैसे दोहरी आग में जल रहा था।

उस रोज़ दो ही बजे वह दफ़्तर से घर के लिए चल पड़ा। घर पहुँचा तो दरवाज़ा भीतर से बन्द था। उसका माथा ठनका, न जाने क्यों। उसके जी में आया कि दरवाज़ा खट-खटाये मगर फिर न जाने क्या सोचकर उसने दरवाज़ा नहीं खटखटाया और दीवार फाँदकर अन्दर पहुँचा—

चम्पा ठाकुर साहब के संग लेटी हुई थी—नंगी, एकदम नंगी, बेशर्म, बेफ़िक्र....और शराब की झाग-सी हँसी दोनों के चेहरे पर थी। केलि-विभोर उनके विमुग्ध शरीर....

फिर चन्द्रिका को होश न रहा। उसने आव देखा न ताव, हाँफता हुआ सामने जाकर खड़ा हो गया। हथियार के नाम पर उसने एक पैर का जूता उतारकर हाथ में ले रक्खा था। लेकिन जो सच पूछिए तो उस जूते का माकूल इस्तेमाल करने की कौन कहे उसे अपने तन-बदन की भी सुध न थी, उसकी अक्ल गुम थी, आँखों के आगे तारे-से टूट रहे थे, हाथ-पैर सुन्न पड़ जा रहे थे और वह एक हाथ में जूता पकड़, हक्का-बक्का, बौड़म की तरह जाकर सामने खड़ा हो गया।

चम्पा चीख़ उठी और ठाकुर साहब के अंक से छिटक कर दूर जा पड़ी और बुरी तरह काँपते हुए हाथों से अपने कपड़े ठीक करने लगी।

ठाकुर परदुमन सिंह भी चौंक कर खड़े हो गये—इस रमणीय बेला में यह कैसा अनभ्र उल्कापात ! यह कौन मरदूद इस वक्त आ गया !

आधे दिल वाले चोर दूसरे होते होंगे। वीर भोग्या वसुंधरा !

ठाकुर साहब ने इसके पहले कभी चन्द्रिका को नहीं देखा था। ग़रज़ भी क्या थी।

चम्पा की सहमी हुई आँखों में उन्होंने रहस्य को पढ़ा और अग्नि-वर्षी नेत्रों से चन्द्रिका को देखते हुए कुछ अस्फुट गुर्राये और फिर यकबयक शेर की तरह जस्त की और चन्द्रिका की गर्दन जा पकड़ी और उसे ज़मीन पर गिराकर उसके सीने पर चढ़ बैठे और उसके मरियल गले को अपने दोनों हाथों से भरपूर जकड़कर शिकंजे को कसने लगे........

और कसते गये, कसते गये, कसते गये, जब तक कि चन्द्रिका की आँखें नहीं निकल आयीं और शरीर ढीला नहीं पड़ गया—

दो-तीन मिनट के अन्दर-अन्दर सब काम तमाम हो गया। चन्द्रिका के मुँह से चीख़ भी नहीं निकली।

चन्द्रिका की लाश पड़ी हुई थी और चम्पा एक कोने में बेहोश पड़ी थी। ठाकुर साहब को भी एक बार बड़ा डर मालूम हुआ कि पागलपन में मैंने यह क्या कर डाला मगर फिर उन्होंने अपने डर पर क़ाबू पा लिया और उनकी अक्ल बिजली की तरह काम करने लगी। उन्होंने इत्मीनान के साथ लाश को

घसीटकर बगल के एक कमरे में बंद कर दिया, पानी लाकर उस जगह को धोया और रात का इंतज़ार करने लगे। मगर चम्पा की बेहोशी दूर करने की हिम्मत उन्हें भी नहीं हुई। क्योंकि घबराहट उन्हें भी थी, दिल उनका भी धड़क रहा था, मगर कम, काफ़ी कम। घर भीतर से बन्द था, किसी के आने का अंदेशा न था, अभी चार-छः घण्टे लाश के बदबू करने का भी सवाल नहीं पैदा होता और तब तक अंधेरा हो जायेगा और वह मजे में लाश अपने गुर्गों की मदद से, किसी अंधे कुएँ में फिंकवा देंगे या दूर कहीं खोदकर गड़वा देंगे—चलो छुट्टी। इसके बाद की सारी कार्रवाई नज़ीर सँभाल लेगा।

नज़ीर थानेदार साहब का नाम है। ठाकुर परदुमन सिंह से उनकी दाँतकाटी रोटी है—और और भी बहुत कुछ है! न जाने कितनी लड़कियों को दोनों ने मिलकर भोगा होगा। यह भी कहना मुशकिल है कि किसको किसकी जूठन मिलती है, और सच बात तो यह है कि दोस्तों के बीच जूठे-मीठे का यह सब परहेज़ ठीक नहीं होता!

ठाकुर परदुमन सिंह के साथ थानेदार नज़ीर के ताल्लुक़ात की यही बुनियाद थी। ठाकुर साहब शौकीन आदमी थे, अच्छा खाना खाते थे, अच्छी शराबें पीते थे और हसीन से हसीन लड़कियों को अपना बग़लगीर बनाते थे। इसके बाद फिर और चाहिए भी क्या। जि़न्दगी चंदरोज़ा है, यों ही हँस-खेलकर गुज़र जाये तो क्या बुरा है।

उधर ठाकुर परदुमन सिंह इस बात को अच्छी तरह समझते थे कि उनकी जो दिलचस्पियाँ थीं उनको देखते हुए पुलिस के महकमे को मिलाकर रखना ऐन ज़रूरी था।

लिहाज़ा सोने में सुहागा मिल गया था और ठाकुर परदुमन सिंह और नज़ीर थानेदार की खूब पटती थी।

सारा काम योजनानुसार हुआ। रात होने पर ठाकुर साहब के गुर्गे लाश को ले जाकर एक ऐसे कुएँ में डाल आये जो अपने खारे पानी के कारण इस्तेमाल में नहीं आता था।

ठाकुर साहब ने नज़ीर को बुलाकर सारा कच्चा चिट्ठा उसके सामने रख दिया और खिसियाई-सी हँसी हँसकर बोले—अब तुम्हीं को सबील निकालनी है दोस्त !

नज़ीर एक ही काइयाँ आदमी था: दोस्ती बरतरफ़, यहाँ तो अच्छी-खासी थैली की उम्मीद पैदा हो गयी थी ! खुदा भी कैसा कारसाज़ है, वह देता है तो छप्पर फाड़कर देता है।

उसने कान पर हाथ रखते हुए बड़ी गम्भीर मुखमुद्रा बनाकर कहा—यह आपने क्या ग़ज़ब कर डाला ठाकुर साहब ! ग़ुस्सा ठीक है मगर ऐसा भी ग़ुस्सा किस काम का कि इन्सान को होश ही न रहे।

ठाकुर साहब कान दबाये सुनते रहे, बोले—ग़ुस्से में किसे होश रहा है भाई ! फिर इज्ज़त की भी तो बात थी। मैं अगर उसका मुँह बन्द न कर देता तो इस ख़ान्दान की इज्ज़त का क्या होता ?

नज़ीर ने कहा—वह तो आप ठीक फ़रमाते हैं ठाकुर साहब, मैं आपसे बाहर थोड़े ही हूँ। कहाँ आप कहाँ तहसीली का एक चपरक़नाती बाबू, बड़ा फ़र्क है दोनों की इज्ज़त में, अजी साहब, ज़मीन-आसमान का फ़र्क है। मगर मैं फिर

कहूँगा कि काम आपने बेजा किया, बहुत बेजा किया और मेरे लिए इस वक्त सबसे मुशकिल बात यह है कि आजकल डी० आई० जी० साहब दौरे पर आये हुए हैं।

ठाकुर साहब ने तीसरी बार नज़ीर के प्याले में शराब ढालते हुए कहा—अमाँ छोड़ो भी उस डी० आई० जी को—यहाँ के बादशाह तो तुम हो !

नज़ीर ने भी कच्ची गोलियाँ नहीं खेली थीं जो इस कोरी चापलूसी से पकड़ में आ जाता। बोला—यह तो ठाकुर साहब आपकी नज़रे इनायत है वर्ना मैं तो एक अदना-सा अफ़सर हूँ और कभी किसी मौके पर मेरी भी मजबूरियाँ हो सकती हैं। मैं आपका दोस्त हूँ, सही, मगर खुदा तो नहीं हूँ !

नज़ीर की इन बातों से ठाकुर परदुमन सिंह गहरे सोच में पड़ गये। और यही नज़ीर चाहता था। दस-पाँच हज़ार की थैली ऐंठने के लिए यही माक़ूल दिमाग़ी कैफ़ियत है !

ठाकुर साहब कुछ बोले नहीं, वैसे ही सोच में पड़े रहे। नज़ीर ने दुबारा रद्दा कसा—मुआमला तो आपने बड़ा संगीन कर दिया है ठाकुर साहब।

नज़ीर मियाँ ज़ाहिरा ऐसी फटी-फटी बेलाग बातें कह रहे थे मगर वह अच्छी तरह समझ चुके थे कि इस मामले में उन्हें क्या करना है और कैसे करना है। और इसके पीछे सिर्फ़ थैली का आकर्षण नहीं, चम्पा के रूप और जोबन का आकर्षण भी काम कर रहा था। भले अभी इस क़िस्म का कोई इशारा ठाकुर साहब की तरफ़ से न आया हो मगर अनुभवी नज़ीर मियाँ की दूरंदेश निगाहों से यह बात छिपी न थी कि आगे-पीछे ज़रूर कोई ऐसी सूरत पैदा होगी कि चम्पा की गदरायी हुई देह

आप से आप उनकी गोद में आ गिरेगी। नज़ीर मियाँ को खुदा की कारसाज़ी पर बेइन्तहा भरोसा था।

····अब इस मामले को और ज़्यादा तूल क्यों दें। इसमें हुआ यह कि कुछ भी नहीं हुआ। यह सही है कि ख़ाविन्द की अदम मौजूदगी में ठाकुर परदुमनसिंह को मक़तूल चन्द्रिका प्रसाद के घर में घुसते दो-एक साहबान ने देखा था। यह भी सही है कि ठाकुर साहब और चम्पाकली के ताल्लुक़ात की सुनगुन भी लोगों को थी। यह भी सही है कि तीसरे पहर के करीब एक मर्तबा किसी औरत की चीख़ भी लोगों को सुनायी दी थी। लेकिन इसके बावजूद जब कुछ भी नहीं हुआ तो यही समझना चाहिए कि पुलिस का केस कमजोर था वर्ना पुलिस कभी किसी को छोड़ती है!

मगर कुछ अजीब-सी बात थी कि पुलिस के पास अपनी जो गवाही-साखी थी भी उसकी तरफ़ से भी वह उदासीन थी। मिसाल के लिए कुएँ से लाश तब निकली जब वह सड़-गल चुकी थी। उसके पहले किसी को उसका पता ही नहीं चला!

ग़रज़ कि बड़ी हिकमत से इस ख़ून के मामले पर एक निहायत मोटी काली चादर डाल दी गयी जिसे चीरना किसी के लिए मुमकिन न था और फिर मामले की छानबीन बड़ी सरगर्मी से करने के बाद पुलिस इस नतीजे पर पहुँची कि यह एक खुदकुशी का केस है और पुलिस के काग़ज़ात में इसको इसी रूप में दर्ज कर लिया गया। पुलिस को इस बात की गवाही देने वाले बहुत-से मिल गये कि इधर एक अर्से से

चन्द्रिका और उसकी बीवी में गहरी अनबन चली आ रही थी और हो न हो उसी से तंग आकर इस ग़रीब ने कुएँ में कूद-कर अपनी जान दे दी।....

किसको अपनी जान भारी थी कि ठाकुर परदुमन सिंह और नज़ीर मियाँ की मिली-जुली ताक़त के खिलाफ़ इस मामले की उखाड़-पछाड़ करता ? लिहाज़ा लोग भी चुप होकर बैठ गये। बस इतना हुआ कि तहसील की आबादी में एक आदमी कम हो गया और तहसीली में एक क्लर्क की जगह खाली हुई जिसमें एक बी० ए० पास नौजवान की भर्ती हो गयी।

५ इन्दरसभा

विधान सभा के ठीक सामने ठाकुर परदुमन सिंह के बँगले के राजसी ठाट-बाट से सजे हुए गोल कमरे में इस समय इन्दर-सभा लगी हुई थी। वसंत ऋतु में धमनियों का रक्त यों ही उष्ण हो जाता है, उस पर से सुन्दरियों का यह सम्मोहन-साम्राज्य। हवा में एक गुलाबी सिहरन थी। शाम का समय था। दखिना पवन बह रहा था। आम के पेड़ पर कोयलिया बोल रही थी। नीम के फूलों की मादक गंध दिशाओं में टीस-सी भर रही थी। ठाकुर परदुमन सिंह अनन्य देश-सेवी ही नहीं, नारी सौन्दर्य के एक अद्वितीय जौहरी भी थे। उनकी अनन्य देश-सेवा उन्हें कांग्रेस के टिकट पर विधान सभा में ले आयी थी और उनकी रूप की परख इन रूपसियों को उनके कमरे में। पिछले कई दिनों से यह सिलसिला चल रहा है। सुन्दरियाँ उन्हें अपने व्यक्त और अव्यक्त सौन्दर्य की छटा दिखला रही हैं और ठाकुर परदुमन सिंह एकान्त मनोयोग से उनका निरीक्षण कर रहे हैं। अब तक वे बाईस सुन्दरियों का

इंटरव्यू ले चुके हैं और आज ये पाँच और आयी हैं। इनमें पंजाबी हैं, सिंधी हैं, बंगाली हैं, महाराष्ट्र हैं, सभी हैं। ठाकुर साहब ने अपने विज्ञापन में ही यह बात साफ़ कर दी थी कि चुनाव करते समय प्रान्तीयता की संकीर्ण भावना को कदापि प्रश्रय न दिया जायेगा। उनका यह विज्ञापन हिन्दुस्तान भर के नामी-गरामी पत्रों में छपा था और इसीलिए हिन्दुस्तान भर से ये रूपवती बालाएँ मूर्त आवेदन बनकर उनके समक्ष उपस्थित हुई थीं। सभी गौरवर्णा थीं, सभी तन्वंगी, सभी वय में बीस के इस पार, दो तो चौदह वर्ष की किशोरियाँ थीं, पर थीं मुकुलितयौवना। ठाकुर परदुमन सिंह की रसज्ञ दृष्टि को उन्होंने विशेष रूप से आकृष्ट किया था। अनुभवी जौहरी की भाँति वे किसी को अपने मन की थाह नहीं लगने देते थे, लेकिन तो भी शेष युवतियों ने नारी की अपनी सहज अन्तरसंज्ञा से इस बात का पता पा लिया था। ठाकुर परदुमन सिंह ने इस प्रौढ़ अवस्था तक आते-आते अपने जीवन में अनेक कामिनियों का निकट परिचय प्राप्त किया था। इससे उनके भीतर भी एक छठीं ज्ञानेन्द्रिय का जन्म हो गया था जिससे वे रमणियों के मन की बात ताड़ लेते थे। उन्होंने किसी के सम्बन्ध में अभी कोई निश्चय नहीं किया था अतः वे अपनी ओर से पूर्ण सावधान थे कि उन सुकुमारियों के हृदय को कोई ठेस न लगे। उन्होंने सबसे उपयुक्त स्वस्तिवचन कहे और अपनी रससिद्ध ललित वार्ता से उन सुन्दरियों के मन के शंका-कीट को मार दिया। उन्होंने फ़िल्म-निर्माण की अपनी विस्तृत योजना उनके सामने रखी और उन्हें बतलाया कि क्यों उनका ध्यान इस चीज़ की तरफ़ गया। बोले—अब हमारा देश स्वाधीन है।

हमें नये तरह के चित्रों की आवश्यकता है। हमारा दुर्भाग्य है कि ऐसे चित्र अभी नहीं बन रहे हैं। अब मेरा ध्यान इस चीज़ की ओर गया है। मैं यहाँ से अवकाश लेकर अब एक बहुत बड़ी फ़िल्म-कम्पनी खोलने जा रहा हूँ। मेरे सामने अपने कार्य की पूरी योजना है। अब तक मेरा सारा समय जन-सेवा ले लेती है लेकिन अब मैं चित्र निर्माण पर ही अपना ध्यान जमाऊँगा। वह क्या जन-सेवा नहीं है? वह तो और भी बड़ी जन-सेवा है। यहाँ तो दस-पच्चीस गाँव का ही मामला है, फ़िल्मों के माध्यम से तो मैं लाखों-करोड़ों लोगों की सेवा कर सकूँगा, आकर देश के इस विराट् पुनर्निर्माण में योग देने के लिए उनका आवाहन करूँगा। मैं बीसियों सुन्दर-सुन्दर चित्र बनाऊँगा। अब मैं अपनी सारी शक्ति इसी काम में लगा दूँगा। मुझे एक-दो नहीं दर्जनों नयी प्रतिभाओं की तलाश है। मुझे तो आप सब लोगों का सहयोग चाहिए। और बड़ी प्रसन्नता की बात है कि अब पहले-जैसा हाल नहीं है। अब हमारी पढ़ी-लिखी सभ्य-सुसंस्कृत देवियों का ध्यान इस व्यवसाय की ओर जा रहा है और सच बात तो यह है कि यह व्यवसाय नहीं जन-सेवा है।....

उनकी इस लम्बी और ओजस्वी वक्तृता का श्रोताओं पर यथो-चित प्रभाव पड़ा और जब उन्होंने इन्टरव्यू का अंत करते हुए मुसकराकर पूछा—'अभी तो दस-पन्द्रह रोज़ आप यहाँ रहेंगी?' तो उन सबने इसमें अपनी सहर्ष सस्मित सम्मति प्रकट की। तब ठाकुर परदुमन सिंह ने उनको बारी-बारी से अपने यहाँ आमंत्रित किया, एक को एक दिन, दूसरी को दूसरे दिन,

तीसरी को तीसरे दिन, चौथी को चौथे दिन, इस तरह ग्यारह दिन तक, हर शाम।

वे युवतियाँ जब ठाकुर परदुमनसिंह के कक्ष से निकलीं तो उनके मुख-मण्डल ज्योतित थे, भाग्य का द्वार उनके लिए खुल रहा था, भविष्य वातायन खोलकर झाँक रहा था। उनके कल्पना-नेत्रों के समक्ष आदिगन्त एक तोरण खिंचा हुआ था जिस पर उन्हीं के नामों की स्वर्ण-झालरें झूल रही थीं, और प्रशंसकों की पंक्तिबद्ध टोलियाँ उनकी विरुदावली गा रही थीं। सबके हृदय में न जाने कैसी गुदगुदी-सी हो रही थी।

और सबसे ज़्यादा गुदगुदी हो रही थी उस भाग्यशालिनी तन्वी किशोरी के हृदय में जिसे ठाकुर साहब ने आज ही सिनेमा और सिनेमा के बाद स्पेंसर्स में डिनर के लिए आमंत्रित किया था। चित्रा के मन में सम्भव है कहीं कुछ अज्ञात भय भी रहा हो पर उल्लास तो अवश्य था और प्रकट था। ठाकुर परदुमनसिंह के समान देशसेवी और जननेता ने उसको अपनी आत्मीयता के योग्य समझा, यह कोई छोटी बात है?

इस इन्टरव्यू से तत्काल भारतीय चित्रपट पर वैसा कोई भूकम्प नहीं आया। ठाकुर परदुमनसिंह ने अवश्य कई फ़िल्में बनायी होंगी पर देखने में एक नहीं आयी।

निदान, फ़िल्मों के माध्यम से तो कोई वैसी उल्लेखनीय देशसेवा न हो सकी, पर क्या वही अकेली देशसेवा है?

एक देशसेवी के हृदय में जिस प्रकार सरसता का संचार हुआ, उसको जो सुख पहुँचा, वह क्या देश सेवा नहीं है? क्या देश की सेवा ही देशसेवा कहलाएगी? और देशसेवी की सेवा?

६ अगर फ़िरदौस बर रुए ज़मीन अस्त

ठाकुर साहब धारा सभा के सदस्य पहले भी रह चुके थे। उनके लिए वहाँ अब कोई नवीनता न बची थी। उसके प्रति उनकी अब वैसी ही उदासीन, निरपेक्ष, ऊबी हुई दृष्टि थी जैसी किसी रसिक पुरुष की अपनी किसी अधेड़ रखैल के प्रति जिसके भीतर अब नया कुछ ज्ञातव्य नहीं है, जिसका शरीर ढल चुका है और अन्दाज बासी पड़ चुके हैं, जो एक रोज़-रोज़ पढ़ी जाने वाली किताब की तरह उसके सामने खुली पड़ी है जिसके वर्क़ रोज़-रोज़ के इस्तेमाल से घिस गये हैं....

बिलकुल ऐसी ही ठाकुर साहब के लिए यह धारा सभा थी।

दिलबस्तगी के लिए जगह बुरी नहीं है। पैसे भी मिलते है, नाम भी होता है। अखबार में फ़ोटू छपता है, आप खड़े होकर

कुछ भी ऊटपटाँग बक दें वह ज्यों का त्यों अखबार में छप जाता है। हड़ लगे न फिटकिरी रंग चोखा।

देश सेवा का यह रूप ठाकुर साहब को बहुत भाता था क्योंकि इसमें काया को कष्ट न था।

यह भी कहना ग़लत होगा कि दूसरे बड़े कर्मठ थे, एक यही अकर्मण्य थे। विरोधी पक्ष के दस-पाँच सिरफिरों को छोड़कर (वैसे दो-चार सिरफिरे तो कांग्रेस पक्ष में भी थे) बाक़ी सबका यही हाल था। सबेरे उठे, हजामत-वजामत बनायी या बनवायी, अखबार उलट-पलट कर देखा, इत्मीनान से चाय पी, गपबाज़ी की, खाने का वक्त हो गया तो खाना खा लिया (नींद जाकर धारा सभा में निकाली), बारह बजे बस आ गयी (ठाकुर साहब के पास तो जैसे अपनी मोटर थी) और सभा-भवन पहुँच गये जहाँ सौ फ़ीट लम्बे और अस्सी फ़ीट चौड़े हॉल में मुबलिग़ पचास अदद पंखे चल रहे हैं, झाड़-फानूस हैं, कंदीलें हैं और फ़र्श पर हरे रंग का खूब ही मोटा और बेशक़ीमत क़ालीन है।

मूर्तियाँ सब आ-आकर अपनी सीटों पर विराज गयीं। बहस में अगर कुछ चटपटापन है तो ठीक, हम भी मुख़ातिब हैं वर्ना हम बैठे कोई ऐयारी या जासूसी नाविल पढ़ रहे हैं (देखनेवाले समझ रहे हैं कि किसी विधेयक का गम्भीर अध्ययन हो रहा है!) नींद मालूम हुई तो ऊँघ लिये, और भी ज्यादा नींद मालूम हुई तो उठकर विश्राम कक्ष में आ गये और अच्छी तरह टाँग फैलाकर सोये। यहाँ हर बात का बड़ा आराम है। कदाचित् इसीलिए धारा सभा की सीटों को इन सम्मानित राजपुरुषों का भार अधिक नहीं वहन करना पड़ता।

असल भारवाही पशु विश्रामकक्ष का वह कमरे भर में फैला हुआ विराट् तखत है जिस पर मोटा-सा गद्दा पड़ा रहता है, सफ़ेद मगर तेल के धब्बों और स्थूल पदांकों से भरपूर चाँदनी बिछी रहती है, निरन्तर मर्दन से ढीली हो रही तोशकें लगी रहती हैं और यहाँ से वहाँ तक धारा सभा के सम्मानित सदस्य अनेकानेक मुद्राओं में लेटे और सोये रहते हैं। बड़े लोगों की बड़ी बातें! प्रतिभाशाली लोगों का स्वभाव कभी साधारण जनों की कसौटी पर रखकर नहीं जाँचना चाहिए। बहुत-से प्रतिभा-सम्पन्न लोग ऐसे होते हैं जिन्हें नींद में ही बड़ी-बड़ी बातें सूझती हैं—कि जैसे एकाएक बिजली कौंधी और कोई बड़ी चमत्कारपूर्ण बात सूझ गयी। बात सूझी और हमें बोलने की हाजत हुई। हम उठे और इसके पहले कि वह अनूठी बात हमारे दिमाग़ से उड़ जाये, अन्दर जाकर हम उसे सस्मित निवेदित कर आये। चलो, कल सबेरे के अख़बार में नाम निकलने का सिलसिला हो गया!

मगर अखबार में नाम निकलने के लिए यही काफ़ी नहीं होता कि आप कोई मार्के की बात कहें (क्योंकि बहुत बार यह देखा गया है कि अख़बारवाले मार्के की बातें तो छोड़ जाते हैं और इसकी-उसकी टुच्ची-टुच्ची बातें उठाकर छाप देते हैं!) इसलिए यह ऐन ज़रूरी है कि आप उनको गाहे-ब-गाहे चाय पर बुलाया करें।

कहने का मतलब यह कि अगर आपने अख़बारवालों को साध लिया है तो फिर कुछ और करने की जरूरत नहीं रह जाती। आप चैन की बंसी बजाइए, आपको जो सीढ़ियाँ चढ़नी हैं आप खुद-ब-खुद चढ़ जायेंगे—जी हाँ, इस दुनिया का कुछ

ऐसा ही करिश्मा है। हाँ बस एक काम कीजिए कि जब आपका नेता हाथ उठाने को कहे तो फ़ौरन, मुस्तैदी से हाथ उठाइए।

धारा सभा के सदस्यों ने इस व्याकरण को अच्छी तरह घोलकर पी लिया है।

७ नहले पर दहला

ठाकुर परदुमन सिंह पंडित रमाबिहारी चतुर्वेदी के कमरे में पहुँचे तो उस वक़्त उनके यहाँ अख़बारनवीसों की एक ख़ासी भीड़ जमा थी। उनको देखकर ठाकुर परदुमन सिंह की आँखें माथे पर जा लगीं।

पर क्या किया जाय, चतुर्वेदी जी इस कला में सचमुच निष्णात हैं। प्रायः रोज़ ही दो-चार अख़बारवाले उनके यहाँ चाय पीते रहते हैं—यह बात और है कि चाय पीने-पिलाने के आधुनिक तौर-तरीके उन्हें न आते हों क्योंकि उन्होंने अपने देहाती समाज में तो हमेशा चाय को लोटे और गिलास में पिये जाते देखा था।

पंडित रमाबिहारी चतुर्वेदी ने ससंभ्रम, अपनी कुर्सी से उठकर ठाकुर परदुमन सिंह का स्वागत किया और छः प्यालियों में चाय ढाली। इन चीजों की आदत उन्हें जरा कम थी। लिहाज़ा एक प्याली अगर डबाडब भर गयी, यहाँ तक कि रकाबी में चाय गिरने लगी, तो दूसरी आधी भी न भरी।

किन्हीं दो प्यालियों में बराबर चाय न थी। तो क्या हुआ, अभी बराबर हुई जाती है। और चतुर्वेदी जी चम्मच से प्यालियों की चाय बराबर करने लगे। लगभग साढ़े तीन मिनट में यह कार्य सम्पादित हुआ और तब लोगों ने अपनी अपनी प्यालियाँ उठा लीं। मगर पेय तब तक काफ़ी ठंडा पड़ चुका था जो कि, कहना चाहिए, अच्छा ही हुआ, चतुर्वेदी जी को अब चाय रकाबी में उँडेलकर दो घण्टे तक फू-फू नहीं करना पड़ेगा। यों भी चतुर्वेदी जी का चाय पीना सबसे अलग था। वे सस्वर चाय पीते थे और स्वर भी कोई ऐसा-वैसा नहीं, बाक़ायदा संगीत का स्वर।

ठाकुर परदुमन सिंह बड़े क़ायदे के आदमी थे। उन्हें खाने-पीने, उठने-बैठने, सलाम-बन्दगी के सारे अँग्रेजी और मुग़लिया तौर-तरीके आते थे। तहजीबयाफ़्ता आदमी थे, अँग्रेज हुक्काम के साथ उनका नित का उठना-बैठना था। उन्हें भदेस-पन से बेहद नफ़रत थी मगर क़िस्मत कुछ ऐसी थी कि रोज उसी चीज से उनका साबक़ा पड़ता था। जल-भुनकर खाक हो जाते थे। अपने इन दोस्तों के सामने तो कुछ न कहते मगर अपनी टोली में, अपने मुसाहबों के बीच, उनका खूब मज़ाक़ उड़ाते—किसी बात की तमीज़ नहीं सबों को। न उठने का सलीक़ा न बैठने का। किसी बात का शऊर नहीं। अंग्रेज़ों से हुकूमत क्या पायी है, उन्हीं के रंग में अपने आपको रंग लेना चाहते हैं मगर लुत्फ़ यह है कि चाय तक पीनी नहीं आती—मील भर से सड़ाप सड़ाप सुन लीजिए, घोड़ा भी इस तरह क्या पानी पीता होगा! अजी एक से एक क़िस्से सुनने को मिलते हैं। अभी उस रोज़ की तो बात है, याद नहीं पड़ता कौन

बतला रहा था, विकासमन्त्री साहब कहीं दौरे पर गये हुए थे, किसी दूर दराज़ इलाक़े में, पी० डब्लू० डी० के बँगले में ठहरे और जब चलने लगे तो वहाँ की पुरानी वक्तों की अच्छी-अच्छी इंग्लिश क्रॉकरी सब उठाकर ले गये—लेकिन हाँ, इतना उन्होंने ज़रूर किया कि ले जाने के पहले उसे अच्छी तरह राख से घिसवाकर शुद्ध कर लिया! कुछ न पूछो यार, बड़े मसखरे लोग हैं, सारी क्रॉकरी ही उठा ले गये, पूछिए आपके बाप की थी जो उठायी और चलते बने!

पंडित रमाबिहारी चतुर्वेदी को चाय-वाय पीने के आधुनिक तौर-तरीक़े भले न आते हों मगर रुपया कमाने के, आधुनिक दूकानदारी के तौर-तरीक़े खूब आते थे। देखने में वह निहायत सीधे-सादे देहाती आदमी थे, मामूली खद्दर की धोती और कुर्त्ता पहनते थे, आठ-दस इञ्च लम्बी मूँछ थी। उनको देखकर कोई कह नहीं सकता था कि इस बछिया के ताऊ के पास पैसा बनाने की ऐसी कूट बुद्धि होगी। मगर वह तो कुछ ऐसी चीज़ है कि रूप-रंग से उसका कोई वास्ता नहीं होता। कुछ लोगों की घुट्टी में ही मिली होती है वह चीज़। पंडित रमाबिहारी चतुर्वेदी ऐसे ही सौभाग्यशाली व्यक्ति थे। उनका सादा बहिरंग उनके आन्तरिक छल-छन्द के लिए बड़े सुन्दर आवरण का काम करता था।

मगर एक बात पंडित रमाबिहारी चतुर्वेदी में बड़ी अच्छी थी। वे जो कुछ करते थे, विशुद्ध देश सेवा के विचार से। देश सेवा की इसी गंभीर प्रेरणावश उन्होंने अनेक सार्वजनिक

संस्थाओं का भार अपने दुर्बल कंधों पर ले रक्खा था। यदि उन सभी से उनके लिए कुछ न कुछ अर्थागम का उपाय हो गया या हो जाता था तो इसमें उनका कोई दोष न था। वे तो जो कुछ करते थे विशुद्ध देशसेवा के विचार से।

विशुद्ध देशसेवा के विचार से ही वे अपने ग्राम जनपद के सभापति और न्याय पंचायत के सरपंच बने थे। उसी दृष्टि से उन्होंने नगर में वनिता विश्राम और अनाथालय की स्थापना की थी। हिन्द सेवक समाज, हरिजन मित्र सङ्घ, वन महोत्सव समिति, गो-पालन समिति आदि अनेक संस्थाओं का भार जो उनके ऊपर था, वह सब उसी एक ही मूल प्रेरणा से। वे किसी के मन्त्री थे किसी के सभापति, किसी के अध्यक्ष किसी के उपाध्यक्ष—और जन्मदाता सबके। उनके नगर और प्रदेश में ऐसे जितने पुण्यकार्य होते थे उन सबकी नींव में कहीं न कहीं उस दधीचि की अस्थियाँ अवश्य होती थीं।

भारत कृषि-प्रधान देश है। धार्मिक दृष्टि से ही नहीं विशुद्ध आर्थिक-सामाजिक दृष्टि से भी यहाँ गोमाता का महत्व कितना अधिक है, यह सर्व-विदित है। परन्तु तो भी देखिए हमारे यहाँ गौओं की दशा कितनी शोचनीय है। हमको लज्जा आनी चाहिए कि जिसको हम माता कहते हैं उसकी देखभाल की ओर से हम इतने उदासीन हैं। हमारी मरियल रोगी गायें हमारे देश का कलंक हैं। यदि हमने इस ओर ध्यान न दिया तो देश के लिए जल्दी ही बड़ी विषम समस्या उत्पन्न हो जायेगी। इसलिए आवश्यक है कि गो-पालन समिति की

स्थापना हो और देशवासियों को इस पुण्य कार्य के लिए उद्बुद्ध किया जाय।

अछूतों की समस्या हिन्दू समाज का कोढ़ है। अपने ही एक भाई को अछूत समझना कितनी लज्जा की बात है। परिणाम भी सामने है। कितनी बड़ी संख्या में हमारे भाई अपने प्राचीन आर्य धर्म को छोड़कर विधर्मी हुए जा रहे हैं। इस संकट की ओर से हिन्दू मात्र को सचेत करने के लिए और भारत की सुप्त आत्मा को जगाने के लिए कुछ ठोस रचनात्मक कार्य अपेक्षित है और इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर हरिजन मित्र सङ्घ की स्थापना की गयी है।

हमारी ग़रीब विधवा बहनों और अनाथ बच्चों का प्रश्न भी कुछ कम विकट नहीं है। विधवाओं की हमारे समाज में कैसी भयंकर दुर्दशा है! और इन फूल-से बच्चों को, जिनका जन्म भले ही पाप के बीज से हुआ हो, हम कैसे दण्डित कर सकते हैं? किस नैतिकता के आधार पर? अपने जन्म के लिए वे स्वयं तो दायी नहीं हैं? उनको देखकर किस सहृदय व्यक्ति का दिल नहीं दहल उठेगा? मैं तो उनको देखकर अपने आँसू नहीं रोक पाता। ये बच्चे हमारे कल के नागरिक हैं। मगर देखिए बेचारे कैसे विनाश के गड्ढे में गिरे जा रहे हैं। क्या आप सीने पर हाथ रखकर कह सकते हैं कि इसमें हमारे समाज का दोष नहीं है? मैं तो इतना बड़ा झूठ नहीं बोल सकता। मैं आपसे

पूछता हूँ इनकी शिक्षा, इनके संस्कार, इनके चारित्रिक पुनर्निर्माण का दायित्व किसका है? राज्य का? राज्य इतने सब दायित्व नहीं उठा सकता। फिर, हमीं-आप तो राज्य हैं? राज्य हमसे हटकर तो कोई वस्तु नहीं है। मैं कहना चाहता हूँ कि ऐसे सब कार्यों का दायित्व मूलतः समाज का होता है, सार्वजनिक संस्थाओं का होता है; राज्य इस कार्य में केवल सहायता दे सकता है। इसी विश्वास के साथ आपके नगर में गाँधी-वनिता-विश्राम और जवाहर अनाथालय की स्थापना की जा रही है और उनके अधिकारी गण आपके मुक्त सहयोग के प्रार्थी हैं।

ऐसे सभी पुण्य कार्यों में पंडित रमा बिहारी चतुर्वेदी की बड़ी आस्था थी।

(इस स्थान पर यदि कोई दुर्मुख ऐसी अवान्तर बातों की ओर संकेत करता है कि गो-पालन समिति के प्राण खुद पंडित रमाबिहारी चतुर्वेदी की गायें ठठरी-ठठरी हो रही हैं, या कि हरिजन मित्र संघ के अधिष्ठाता पंडित रमाबिहारी चतुर्वेदी चमार-पासियों की छाया से भी दूर भागते हैं, यहाँ तक कि अपने पितृहीन भतीजे सरयू की शादी के भोज में उन्होंने अपने एक एम० एल० ए० बन्धु तक को सबसे अलग एक पीढ़े पर बिठाल कर खाना खिलाया था या कि गाँधी वनिता विश्राम के संस्थापक पंडित रमाबिहारी चतुर्वेदी की दृष्टि आश्रम में रहने वाली सरस्वती नाम की एक ब्राह्मण युवती के प्रति पूर्ण अनासक्त नहीं

थी या कि जवाहर अनाथालय के छोकरे पढ़ने-लिखने या कोई उपयोगी उद्योग-धंधा सीखने से दूर उनके घर के टहलुए बनकर रह गये थे—यदि कोई दुर्मुख इन अवान्तर बातों की ओर संकेत करके पंडित रमाबिहारी चतुर्वेदी की सेवाओं के मूल्य को कम करने की कोशिश करता है तो कहना होगा कि उस व्यक्ति के भीतर असाधारण मात्रा में विष भरा हुआ है और उसके परिष्कार की दिशा में उसको सबसे पहले अपना कब्ज़ दूर करने के लिए कैस्टोफ़ीन खाना चाहिए।)

यह बात सन्देह से परे है कि जनसेवा के प्रति चतुर्वेदी जी के मन में गहरा अनुराग था। देशसेवा की भावना ही उनके जीवन की मूल प्रेरक शक्ति थी। अगर इन संस्थाओं से उनको कुछ थोड़ी-बहुत प्राप्ति हो जाती थी तो उसको पुण्यकार्य का दैवी पुरस्कार ही मानना चाहिए। कौन नहीं जानता कि भगवान् किसी पुण्यकार्य को अपुरस्कृत नहीं जाने देता। यदि वह ऐसा न करे तो सोचने की बात है पुण्य कार्यों के प्रति लोगों का अनुराग किस आधार पर टिके?

राजा भगवान् का प्रतिनिधि होता है। अतः परम आस्तिक पंडित रमाबिहारी चतुर्वेदी राज्य के बजट को भगवान् की इच्छा के संकेतों के रूप में ग्रहण करते थे और एकान्त मनोयोग से उसका अध्ययन करते थे। चालू वर्ष का बजट ही उनका धर्म ग्रन्थ था, उनकी गीता, उनकी रामायण। बजट

की उनकी प्रति अत्यधिक पारायण से वर्ष का अन्त होते होते एकदम घिस जाती थी। बजट की अपनी प्रति वे किसी को देखने न देते थे (धर्म ग्रन्थ की पवित्रता की रक्षा करनी ही चाहिए !) लेकिन अगर कोई दिव्यचक्षु उसको देख सकता तो यह देखकर चकित रह जाता कि कितनी गंभीरता से पंडित जी ने उसका अध्ययन किया है। डी० लिट्० को थीसिस के लिए भी कोई इतनी बारीक, खोजपूर्ण दृष्टि से किसी ग्रंथ का अध्ययन क्या ही करता होगा ! सारी किताब लाल-नीली पेंसिल के निशानों से रँगी हुई थी और हाशियों में चतुर्वेदी जी के नोट्स थे। बजट का उनसे अच्छा ज्ञाता प्रदेश भर में दूसरा नहीं था। फलतः उनके समस्त पुण्य कार्यों का उत्स यही धर्म ग्रन्थ था। विविध शीर्षकों और उपशीर्षकों के अन्तर्गत दिये हुए प्रस्तावित सरकारी अनुदानों के आँकड़े ही उन्हें देश सेवा का संकेत दिया करते थे।

शराबबन्दी के प्रचार के लिए सरकार ने इस वर्ष निधि रक्खी है, यह देखकर पंडित रमा बिहारी चतुर्वेदी मद्यपान से जर्जर हो रहे भारत के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के प्रति विशेष उद्विग्न हो उठे हैं और उन्हें लगने लगा है कि तत्काल इस चीज़ का कोई उपाय होना चाहिए अन्यथा देश रसातल को चला जायेगा। निदान उन्होंने मद्य-निरोधिनी-सभा की अविलंब स्थापना का संकल्प किया है और स्थापना माननीय मुख्य मंत्री जी के कर कमलों से हो इसकी व्यवस्था में लग गये हैं।

संस्कृत भारत की अधिकांश, प्रायः सभी, भाषाओं की मूल भाषा है। उसका अधिक से अधिक प्रचार व प्रसार होना चाहिए। नये आय-व्ययक में इसके लिए भी अनुदान की अच्छी रकम है। फलतः पंडित रमा बिहारी चतुर्वेदी, जिनकी संस्कृत से उतनी ही भेंट है जितनी किसी गाय की, (क्योंकि गौ और ब्राह्मण दोनों पूज्य हैं और दोनों का वेदों में नामोल्लेख है !) शीघ्रातिशीघ्र एक अखिल विश्व संस्कृत समाज की स्थापना कर डालना चाहते हैं और उसके लिए केन्द्र के किसी मंत्री को बुलाना चाहते हैं। सभी बुद्धिमान, समयचेता व्यक्तियों की भाँति पंडित रमाबिहारी चतुर्वेदी ज़िन्दगी को एक दौड़ मानते हैं। इस दौड़ का अटल नियम है कि इसमें जो आगे निकल जाता है वह आगे निकल जाता है, जो पीछे रह जाता है वह पीछे रह जाता है।

यह बात सुनने में जितनी मामूली जान पड़ती है वास्तव में उतनी मामूली है नहीं। इसका असल मतलब क्या है, इसको कोई पूछे पंडित रमाबिहारी चतुर्वेदी के दिल से जिन्हें आज तक इस बात का मलाल है कि आदिवासियों के उद्धार के लिए वनवासी मण्डल की स्थापना की दौड़ में वे पीछे रह गये थे और उनके एक दूसरे भाई आगे निकल गये थे। ऐसी ही और भी कुछ सार्वजनिक संस्थाओं के मामले में दूसरे लोग उनसे बाज़ी ले गये थे और इसका उन्हें हार्दिक क्लेश था।

मगर जितनी देशसेवा उनके द्वारा हो रही थी वह जीवन को उपकृत करने के लिए काफ़ी थी। न्याय पंचायत के सरपंच

की हैसियत से रुपये के लेनदेन के, खेतों की डाँड़-मेड़ के, मकान बनाते समय पड़ोसी की फुट दो फुट ज़मीन दाब लेने के या मकान का परनाला किसी भले आदमी के घर के सामने निकालने के छोटे-मोटे झगड़े, छोटी-मोटी फ़ौजदारियाँ उनके सामने न्याय के लिए आती थीं। कौन नहीं जानता कि यही छोटे-मोटे झगड़े जब गाव की सरहद से निकलकर कलक्टरी और हाईकोर्ट तक पहुंचते हैं तो बड़े महाभारत का रूप ले लेते हैं। इसलिए उनका फ़ैसला करते समय पंडित रमाबिहारी चतुर्वेदी की न्याय बुद्धि का तक़ाज़ा होता था कि ये झगड़े गांव की सरहद के बाहर न जाने पायें और यही सोचकर चतुर्वेदी जी मुद्दई-मुद्दालेह दोनों से कुछ कुछ पैसे खाकर गाव के झगड़े गाव में ही निबटा लिया करते थे। इससे दो लाभ होते थे—एक तो गाव का पैसा गाव में ही रह जाता था दूसरे छोटे-मोटे झगड़े महाभारत का रूप लेने से बच जाते थे।

ग्राम जनपद के अध्यक्ष की हैसियत से ग्राम विकास की सरकारी योजनाओं के सारे अनुदान पंडित रमाबिहारी चतुर्वेदी के हाथों से होकर गुज़रते थे। मगर चतुर्वेदी जी की कुछ ऐसी माया थी कि किसी को उसकी गन्ध तक नहीं मिलने पाती थी और रुपये सब यथास्थान पहुँच जाते थे। गाव में एक से एक शातिर सूँघनेवाले पड़े हुए थे मगर पंडित रमाबिहारी चतुर्वेदी उनके भी लकड़दादा थे।

पुराने लोग कह गये हैं कि मसजिद में चिराग़ जलाने के पहले आदमी को अपने घर में चिराग़ जलाना चाहिए। चतुर्वेदी जी का भी यही जीवन-सिद्धान्त था मगर उनके घर का

चिराग़ न जाने कैसा था कि कभी जलने ही में नहीं आता था। ज़रूर उसकी पेंदी में कोई बड़ा-सा सूराख रहा होगा।

चतुर्वेदी जी अच्छे समृद्ध किसान थे। कई सौ बीघे ज़मीन उनके पास थी, मिले-जुले कुछ नये कुछ पुराने तरीक़ों से खेती होती थी। वह किसी के एक पैसे के कर्जदार न थे, उल्टे उन्होंने भीतर ही भीतर पैसे सूद पर चढ़ा रक्खे थे। तक़ावी या इस किस्म की दूसरी सरकारी इमदाद उनके जैसे असामियों के लिए शायद नहीं बनी है, लेकिन घर में आयी हुई लक्ष्मी का निरादर करने से भी पाप लगता है। लिहाज़ा बाहर से जितना भी पैसा आता उसका प्रायः नब्बे प्रतिशत तो जनपद के कर्ता धर्ता घर ही घर में और भाई-बन्दों में बाँट-चूटकर खत्म कर देते और बाक़ी सैकड़े पीछे दस में गाँव के साधारण जनों को चटनी चटायी जाती ताकि उनके मुँह बन्द रहें और बात फैलने न पाये। इसी तरह और भी निधियों का हाल था। गाँव में साक्षरता आंदोलन चलाने के लिए साल में तीन-चार हज़ार रुपये तक मिलते थे, मगर वह सब किस मोरी की राह बह जाते थे, यह आज तक कोई नहीं जान पाया। जानना टेढ़ी खीर था भी क्योंकि जो सज्जन साक्षरता प्रचार के लिए मुख्य रूप से नियुक्त किये गये थे वे यों चाहे निपट निरक्षर हों मगर थे बड़ी चलती रक़म और अपनी इस नयी नियुक्ति के पहले किसी सेठ की गद्दी पर मुनीमी करते थे। उनके पेट में बात खूब पचती थी। वह दूर-दराज़ी रिश्ते से पंडित रमाबिहारी चतुर्वेदी के भतीजे लगते थे। बड़े आवारा किस्म के आदमी थे। उनके लिए बड़ी-बड़ी कोशिशें हुईं मगर वह कुछ पढ़े-लिखे नहीं और आखिरकार हार थककर

उन्हें मुनीमी पढ़ाई गई—और अब जनपद को साक्षर और सुशिक्षित बनाने का दायित्व उन्हीं पर था !

श्रीकान्त जी को और बातें चाहे कम आती हों मगर इतना था कि रक़मों के उलट-फेर की कला में वह पारंगत थे। हिसाब एक दम साफ़, दर्पन की तरह, चाहे तो उसमें अपना मुँह देख लो—और रक़म ग़ायब। इस मामले में तो श्रीकान्त जी पूरे जादूगर थे, आपकी आँख के नीचे से ऊँट चुरा ले जायँ। सम्प्रति योजना की सफलता के लिए ऐसे ही कुशल व्यक्ति की अपेक्षा थी। श्रीकान्त में कुछ तो जैसे दैवी प्रतिभा थी और कुछ सेठ दीनदयाल के यहाँ बारह बरस मुनीमी का प्रताप था।

हो सकता है कि पंडित रमाबिहारी चतुर्वेदी का ध्यान अपने इस भतीजे की ओर उसकी इसी विशिष्ट प्रतिभा के कारण गया हो। श्रीकान्त गद्दी छोड़कर आने को तैयार नहीं था। वह तो चतुर्वेदी जी ने उसको काफ़ी बहलाया-फुसलाया, भैया-बबुआ किया, और कुछ लालच-वालच भी दी तब कहीं वह उनके साथ आने पर राज़ी हुआ। ज़रूर उसने अपने लिए भी कोई गुञ्जाइश देखी होगी।

चतुर्वेदी जी में एक बात बड़ी मार्के की है। वह लालची नहीं हैं, कभी अकेले नहीं खाते, हमेशा बाँट-चूँटकर खाते हैं। चतुर्वेदी जी पक्के सर्वोदयी हैं इस मामले में भी—सर्वोदय अर्थात् सब का उदय, देश की धन-सम्पदा पर सबका समान अधिकार.... इसीलिए उनकी बात खुलने नहीं पाती। इतने बरसों में न जाने कितने लोग मैदान में आये और बदनाम होकर चले गये मगर पंडित रमाबिहारी चतुर्वेदी हैं कि आज भी उसी प्रकार देशसेवा करते चले जा रहे हैं।

पैसे खाने का कोई एक ढङ्ग नहीं है। कोई कैसे खाता है, कोई कैसे खाता है। सभी कलाकार हैं। सब की अलग-अलग अपनी कला है। कोई दो कलाकार एक-से नहीं होते। ब्रह्म तक पहुँचने के एक नहीं अनेक रास्ते हैं। मिसाल के लिए कोई डंके की चोट पर खाता है कोई टट्टी की आड़ में। डंके की चोट पर खानेवाले सिंह-प्रकृति के होते हैं। उसी प्रकार टट्टी की आड़ में खानेवाले शृगाल-प्रकृति के होते हैं। सिंह-प्रकृतिवालों की भूख बड़ी होती है, लेकिन जिस तरह शेर कितना ही भूखा क्यों न हो मगर कभी घास नहीं खा सकता उसी तरह भूख बड़ी होते हुए भी वे लोग कभी अपने स्टैंडर्ड से नीचे नहीं गिरते। शृगाल का अपना कोई स्टैंडर्ड नहीं होता। ग्राह्य-अग्राह्य जो कुछ जहाँ से भी मिल रहा हो सब उसे सहर्ष स्वीकार है। ऐसा आदमी दो रुपये पर भी उसी तरह मुँह के बल गिरता है जैसे दो हजार पर।

खाने के विधि-विधान में और भी भेद-विभेद हैं। कुछ लोग अपने हाथ से लेना पसन्द करते हैं, कुछ लोग किसी को बीच में डालकर। कुछ लोग मुसकराकर गला काटते हैं कुछ लोग और भी जल्लादी सूरत अख़्तियार कर लेते हैं। कुछ लोग स्पष्ट रूप से सौदेबाज़ी की शकल में अपना प्रस्ताव रखते हैं, कुछ लोग करते तो खूब घना सौदा हैं, बिला मुरौवत, मगर स्वांग कुछ ऐसा भरते हैं कि जैसे बड़ा एहसान कर रहे हों।

कहने का मतलब यह कि सब कलाकार हैं और सबका अपना ढंग है, कोई किसी से हेठा नहीं है, सब मीर हैं, सबने मैदान मारे हैं, दुश्मन को चित किया है, बात मौक़े की है, दाँव की है। कोई दाँव पर आ जाय और आसमान न देख

ले, यह हो नहीं सकता। बड़ी-बड़ी आज़माइशों के बाद लोगों ने अपने दाँव ईजाद किये हैं।

इसी बात को दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि धारा सभा एक दुधार गाय है जिसे सदस्यगण अपने-अपने ढंग से दुहते हैं। अगर्चे कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जिनकी निगाह ऐसी नहीं होती, जिनकी हरचंद यह कोशिश होती है कि विधान सभा समाज का, देश का कुछ नये ढंग से विधान करे ताकि देश जागे, हँसे, खिले मगर जो सच पूछिए तो ये कुछ थोड़े-से नातजुर्बेकार सरफिरे लोग हैं जिनके लबों पर अभी माँ का दूध भी शायद नहीं सूखा है।

ये सरफिरे बड़ी तनदिही से हर बिल को घोख-घाखकर आते हैं, दुनिया भर की मालूमात अपनी स्पीच के अन्दर ठूँसने की कोशिश करते हैं, अपने इलाके को लेकर नानी की कहानी कह चलते हैं, ऐसा क्यों है, ऐसा क्यों नहीं है। भला बताइए, ऐसे सवालों का भी कोई जवाब है ? और किसे इतनी फ़ुर्सत है ? दूसरे हज़ार काम हैं, एक से एक ज़रूरी, इस फ़िज़ूल की बहसा-बहसी में कौन वक़्त खराब करे !

लिहाज़ा सूरत यह बनती है कि विरोधी पक्ष के चार-छः लोग हर बिल पर लंबी लंबी स्पीच झाड़ते हैं (कमाल है कि उनके गले भी नहीं थकते !) और सभा भवन की कुर्सियाँ सुनती हैं। क्योंकि सुननेवाले तो ज्यादातर बाहर गलियारों में या मंत्रियों-उपमंत्रियों-उप-उपमंत्रियों के कक्षों में जनकल्याण की योजनाएँ बनाने में व्यस्त रहते हैं या विश्रामकक्ष में टाँग फैलाकर सोते हैं। जो थोड़ी-सी मूर्तियाँ सभा भवन में दिखायी दे रही हैं उनके बारे में भी यह सोचना भूल होगी कि वे वहाँ

पर उपस्थित हैं। क्योंकि सच बात यह है कि केवल उनकी लोथ वहाँ पर है, वे तो कहीं स्वप्नलोक में हैं। उनकी आँखें अगर मुँदी हुई है तो किसी गम्भीर चिन्तन में नहीं, तन्द्रा में और सर जो बीच-बीच में हिल जाता है वह भी उसी तन्द्रा में न कि किसी बात की दाद देने के लिए।

ये सब लोग छोटे-मोटे नेपोलियन हैं जो लड़ाई के मैदान में घोड़े की पीठ पर सोने का अभ्यास कर रहे हैं। बस कुर्सियाँ जाग रही हैं क्योंकि वे नेपोलियन नहीं हैं।

८ आदिम जंगल की पुकार

पिछले दिनों ठाकुर परदुमनसिंह अपनी प्रस्तावित फ़िल्म-कम्पनी को लेकर बहुत व्यस्त रहे हैं वर्ना उनका नित्य का कार्य-क्रम था कि विधान सभा से लौटते, अपने कमरे में ही चाय-वाय पीते और फिर अच्छी तरह हाथ-मुँह धोकर, और अगर गर्मियाँ हैं तो नहाकर, खादी के सफ़ेद बुर्राक़ कपड़े पहनकर अपनी लंबी सी, खूबसूरत, काली डिसोटो में सवार होते और किसी मंत्री जी के यहाँ पहुँच जाते। पुराने जागीरदार आदमी थे। लोग उनके हुजूर में दरबार लगाते थे और वह खुद अँग्रेज़ कलक्टर और कमिश्नर के हुजूर में दरबार लगाते थे, लिहाज़ा दरबारदारी में उनका जोड़ नहीं था। तरीके सब वही थे, बस आदमी बदल गये थे।

ठाकुर परदुमन सिंह को यहाँ भी अक्सर कुछ ऐसी बातें नज़र आती थीं जिनसे उन्हें सख्त कोफ़्त होती थी, मगर बेचारे ठाकुर साहब दिनों का फेर देखकर चुप रह जाते थे और गोंद

से चिपकायी हुई अपनी उस आकर्ण मुसकराहट को कभी अपने चेहरे से अलग न होने देते थे। और यही वजह थी कि मंत्रियों और अपने सहयोगियों के बीच ठाकुर परदुमन सिंह बहुत लोकप्रिय व्यक्ति थे। यह नहीं कि लोग उनके बारे में जानते न थे मगर वह बातें अगले वक्तों की थीं और अब उन्हें सोचने से तकलीफ़ होती थी और तकलीफ़ हो न हो अब उन बातों को लेकर माथा-पच्ची करना बेसूद था, बात आयी-गयी हो गयी, गुस्से में किसे होश रहता है और फिर राजसी दिमाग़ ठहरा, बेक़ाबू हो गया। अजी, औरत चीज़ ही ऐसी है। छिपाने से क्या फ़ायदा। धोती के नीचे सब नंगे रहते हैं। इसमें पर्दा कैसा, खूबसूरत औरत को देखकर किसकी अक़ल ठिकाने रही है!

और जो असामियों को सताने की बात कहो तो कौन नहीं सताता? सब फ़िज़ूल की बातें हैं। हर चीज़ का एक क़ायदा होता है। सुनने में बात बड़ी अच्छी मालूम होती है, असामियों को मत सताओ। मगर आटे-दाल का भाव तो मालूम पड़ता है उसको जिसे उनके संग बरतना पड़ता है। जाके पैर न फटी बिवाई, वह क्या जाने पीर पराई। ज़मीन के मालिक और जोतनेवाले का सम्बन्ध वही होता है जो घुड़सवार और घोड़े का होता है—अच्छी तरह आसन जमाकर न बैठो तो उठाकर फेंक दें साले! वह बस देखने ही में सीधे होते हैं। उनका बस चले तो उल्टी छूरी से हमारा-आपका गला रेतें!

कहने का अभिप्राय यह कि किसानों के नामलेवा, किसानों के हितैषी, किसानों के माई-बाप इन भाग्य विधाताओं के बीच ठाकुर परदुमन सिंह के सभी पुराने पापों का प्रक्षालन हो गया

था और ठाकुर साहब को उनसे पूरा आदर-सत्कार मिलता था। ठाकुर साहब की सोहबत सभी को बहुत पसंद थी, पुराने बैठकबाज़ आदमी थे, इस कला में उनको कौन पा सकता था। उनका उठना-बैठना, उनका बातचीत का ढंग, उनके पुरलुत्फ़ चुटकुले—सबसे एक जान-सी पैदा हो जाती थी। और फिर बात इतनी ही थोड़े थी। ठाकुर साहब रसिक जीव थे। नारी-हृदय का, नारी-देह का उन्होंने सूक्ष्मतम अनुसंधान किया था, सुरा और सुन्दरी का छककर पान किया था। जब वे शराब के हलके-से नशे में, जो नशा कल्पना को पंख लगा देता है, खूब रस ले-लेकर, हल्के, भर्राये हुए स्वर में अपनी वे कहानियाँ कह चलते तो उनके सामने बैठे हुए वे सदाचार के पुजारी रस की गंगा में डूबने-उतराने लगते और पेट में उन्हें एक गुदगुदी-सी महसूस होती। कहानी जितनी ही नंगी होती उसका रस उतना ही तीव्र। उन बेचारों को शायद ठाकुर परदुमन सिंह का-सा चोखा भाग्य नहीं मिला था, इसलिए वे ठाकुर साहब की कहानियों में ही तृप्ति खोजते।

इधर कुछ दिनों से ठाकुर साहब पर विदेश यात्रा की धुन सवार है। अपने पैसे से तो वह एक बार योरप हो आये थे, लेकिन अब उनकी इच्छा थी कि एक बार किसी सरकारी काम से जायें। आये दिन एक न एक व्यापारिक या सांस्कृतिक शिष्टमण्डल बाहर जाता रहता है। क्यों न एक बार ठाकुर साहब भी—

पेरिस के नाइट क्लबों की पुकार उनके बूढ़े रक्त में तेज़ होती जा रही थी। आज से प्रायः पन्द्रह बरस पहले जब वह योरप गये थे तब पेरिस के नैश जीवन ने उन्हें बन्दी बना लिया

था। अहा, कितना मुक्त जीवन था! कितना मादक! कैसी सौंदर्य-राशि! सब जैसे अपनी जवानी का ख़ज़ाना दोनों हाथ से लुटा रही थीं, जितना लूट सको लूट लो!

अब उनके शरीर में वह पुराना कसबल न था मगर भूख सौगुनी बढ़ गयी थी, जैसे मरीज़ की भूख। उन्हें पन्द्रह बरस पहले के वह दिन याद आ रहे थे जब पेरिस की उन नग्न सुन्दरियों ने इस 'इंडियन प्रिंस' को चारों ओर से अपने आलिंगन में जकड़ लिया था, और नशीली सुगंधियों की मंजूषा छितराकर हवा में घुल गयी थी और उन्हें नारी-देह के सम्मोहन की ऐसी निबिड़, अतीन्द्रिय, कष्टकर, सुखद अनुभूति हुई थी जैसी कि उन तक को इसके पहले नहीं हुई थी। अब फिर वही आदिम पुकार उनकी धमनियों में सुरबहार की तरह बज रही थी। देखें फिर कब सुयोग होता है।

ठाकुर साहब के दो बेटे थे। बड़ा बेटा रिपुदमन सिंह हवाई बेड़े में था। बड़ा अफ़सर था, अच्छी तनख्वाह पाता था, मजे से रहता था। साल दो साल में एकाध बार घर आ जाता था तो उसकी सजीली देह, कलफ़ की हुई वर्दी, बिल्ले और चमचम रिवालवर को देखकर पिता की छाती गर्व से फूल उठती थी। लेकिन पिता-पुत्र में बस इतना ही संबंध था।

उनका छोटा बेटा रनदमन बिलकुल पिता के चरण-चिह्नों पर चल रहा था। पढ़ने-लिखने में वह बिलकुल नाकाम रहा। उसे बस दो शौक़ थे, घुड़सवारी और शिकार। वह अब तक पचीसों हिरन, दो शेर, दो जंगली सुअर, दो डोमिनों और चार चमारिनों का शिकार कर चुका था। उसे अपने पिता का शरीर तो नहीं मिला था पर प्रवृत्तियाँ सभी मिल गयी थीं। घर में उसकी

शकल कम ही दिखायी देती, ज़्यादातर वह दूर कहीं शिकार खेला करता। वह जंगलों का आदमी था, सभ्य जीवन से उसका कम ही संबंध था, शायद इसीलिए प्रणय-व्यापार में भी उसकी रुचि ठेठ जंगली थी! उसे रूप के प्रति कोई आसक्ति न थी, थी बस यौवन की तलाश और वह चीज़ उसे जंगल में लकड़ी काटनेवाली और खेतों में काम करनेवाली लड़कियों में, घासवालियों में भरपूर मिल जाती थी। अकसर रूप भी मिल जाता था, लेकिन रूप अगर न भी मिले तो कोई बात नहीं।

पिता को पुत्र की और पुत्र को पिता की सब कारगुज़ारियों का हाल मालूम रहता था पर दोनों में इस विषय पर मौन रहने की संधि थी।

९ मृगछलना : छलनामृग

पंडित रमाबिहारी चतुर्वेदी के यहाँ नक़्शा बिलकुल उलटा था। उनका परिवार काफ़ी भरा-पूरा था—पत्नी थी, चार लड़के थे, एक लड़की थी जिसका ब्याह एक अच्छे खाते-पीते किसान परिवार में हुआ था। जिस तरह का सूनापन ठाकुर परदुमन सिंह के जीवन में बसा हुआ था, वैसी कोई चीज़ यहाँ पर न थी। चतुर्वेदी जी का बड़ा लड़का किशन खेती-किसानी करता था, घर सँभालता था। चतुर्वेदी जी को घर की तरफ़ से पूरी छुट्टी थी ताकि निर्द्वंद्व भाव से देश सेवा कर सकें। किशन से छोटा प्रताप प्रयाग विश्वविद्यालय में एम० ए० का छात्र था; उससे छोटा हरी बी० ए० में पढ़ता था और सबसे छोटा प्रह्लाद मैट्रिक में। चौबाइन सीधी-सादी देहाती महिला थीं जिनके लिए उनके पतिदेव अपने नाम के अनुरूप साक्षात् विष्णु थे। जैसा कि आदर्श हिन्दू नारी के लिए उचित है उनको अपने पति में अंध श्रद्धा थी। पतिदेव घर के बाहर क्या स्याह-सफ़ेद

करते हैं इसमें न तो उनको दिलचस्पी थी और न चतुर्वेदी जी कभी उनसे इसके बारे में बात करते थे। घर की रसोई नियम से पका देना, बखार के अनाज की देखभाल कर लेना और खेती-किसानी के ऐसे ही कुछ और छोटे-मोटे घरेलू काम-काज—चौबाइन के लिए इतना ही काफ़ी था।

चतुर्वेदी जी का दांपत्य जीवन हर प्रकार सुखी था। पत्नी, बेटे-बेटी, धन-धान्य—सभी कुछ तो था। और देश का कार्य निर्विघ्न रूप से वही कर सकता है जिसका दांपत्य जीवन निष्कण्टक हो। फलतः चतुर्वेदी जी का अधिकांश समय बाहर देश सेवा में ही बीतता। दो बेटे, प्रताप और हरी दूर इलाहाबाद शहर में पढ़ते और बस छुट्टियों में घर आते। घर पर था सबसे छोटा प्रह्लाद और सबसे बड़ा किशन, जिसने अब तक ब्याह नहीं किया था और जिसके ब्याह की बात को लेकर अकसर घर में नाटक खड़ा हो जाता था। बिटिया तो जैसे अपने घर थी और कभी साल-दो बरस में चार छः दिन के लिए आकर अपनी झलक दिखा जाती थी। इस तरह बेचारी चौबाइन का कोई संगी न था। मगर चौबाइन तब भी ख़ुश रहतीं। एक तो उन्होंने आस-पास दूसरे किसी ढंग की ज़िन्दगी कभी देखी न थी, दूसरे उन्होंने धीरे-धीरे अपना एक अलग समाज बना लिया था जिसमें उनका बड़ा मान था क्योंकि वह चतुर्वेदी जी की पत्नी थीं, ग्राम जनपद के अध्यक्ष और न्याय पंचायत के सरपंच की पत्नी थीं। सम्मान की बात ही थी और सम्मान उनको मिलता था मगर कभी कभी इसी कारण अपमान भी कम न उठाना पड़ता। वह ऐसे कि लोग जिनका चतुर्वेदी जी से कोई काम अटका होता अपनी पत्नियों के ज़रिये

जाते। चौबाइन बहुत बार तो टाल जातीं मगर कभी कभी ऐसी अड़दब में फंस जातीं कि इनकार न करते बनता और तभी उनको नीचा देखना पड़ता क्योंकि चतुर्वेदी जी यों चाहे एक बार वह काम कर भी देते मगर चौबाइन की सिफ़ारिश पर तो अदबदाकर न करते। पता नहीं चौबाइन से उनको ऐसी क्या अदावत थी। और यह बात ऐसी थी कि चौबाइन किसी से कह भी न सकती थीं। क्या मजाल कि इतने बरसों में एक बार भी उन्होंने चौबाइन के कहने से किसी का कोई काम किया हो! उल्टे डाँट अलबत्ता चौबाइन पर पड़ती—लिख लोढ़ा पढ़ पत्थर, न कुछ जानो न समझो, खामखा हर बात में टाँग अड़ाती हो! मैंने तुमसे कितनी बार बतला दिया किशन की अम्माँ—

बहुत बार यह चीज़ हो चुकी थी। चौबाइन का दिल बहुत दुखता मगर क्या करतीं, रो-धोकर चुप हो जातीं। अपनी उन सहेलियों-गोतिनों के आगे उन्हें बहुत नीचा देखना पड़ता मगर चतुर्वेदी जी को इन बातों का कोई ख़याल न था। लेकिन एक तरह से यह ठीक भी था क्योंकि इस चीज़ के दो फ़ायदे थे। एक तो यह कि चतुर्वेदी जी को अपनी शतरंजी चालों में कोई हेरफेर न करनी पड़ती और दूसरे यह कि स्त्री को अपनी असल स्थिति का ज्ञान बना रहता। किसी ने कितना ठीक कहा है कि स्त्री को पैर की लतरी की तरह रखना चाहिए—इसी में वह ठीक रहती हैं और सच पूछो तो यही उन्हें अच्छा भी लगता है!

शायद इसी ख़याल से चतुर्वेदी जी हमेशा अपनी पत्नी

को, जो सचमुच उन पर जान छिड़कती थी, उसके अनपढ़ और गँवार होने पर ताने दिया करते। उर्दू-हिन्दी मिडिल पास चतुर्वेदी जी को निश्चय ही ऐसा कहने का अधिकार था। बेचारी चौबाइन का यह हाल कि वह और सब बातें सह सकती थीं मगर इस एक बात से उनके दिल के टुकड़े-टुकड़े हो जाते। उफ़!

यह सच था कि चौबाइन अनपढ़ थीं और गँवार थीं—इस बात से उन्हें कब इनकार था—मगर इसमें उनका क्या दोष? उस जमाने में कौन बाप अपनी लड़की को पढ़ाता था? और सो भी चौबाइन के मैके-जैसे वज्र देहात में जहाँ रेल पकड़ने के लिए चालिस-बयालिस मील बैलगाड़ी से जाना पड़ता और रास्ते में तीन तीन नदी पार करनी पड़ती? पहुँचते-पहुँचते हड्डी भुरकुस हो जाती थी।....चौबे जी ने सब कुछ देख-सुनकर ही तो ब्याह किया था, अब क्यों झींखते हैं? अरे भूलती क्यों हो चौबाइन, तुम्हारे बाप ने थैली भी तो बड़ी दी थी। वही थैली देखकर तो पंडित जी के मुँह से लार टपक पड़ी! कहतीं क्यों नहीं चौबाइन, तुम्हारे तालू में जीभ नहीं है क्या?.... पूछो, चौबाइन के बाप ने अपनी लड़की को नहीं पढ़ाया तो आप ने ही क्यों न पढ़ा लिया अगर आपको ऐसी ही आलिम-फाजिल बीबी की दरकार थी? मगर नहीं, वह कैसे होता, उसमें तो एड़ी-चोटी का पसीना एक करना पड़ता, पका-पकाया हलुआ थोड़े ही था कि उठाया और गप्प! उनको पहले देश की सेवा से तो फ़ुर्सत मिले!....और चतुर्वेदी जी भी ठीक ही कहते हैं, यह सब करने लगता तो इसी भर का हो जाता। जो है सब ठीक है।

मगर सच बात यह थी कि सब ठीक नहीं था। चतुर्वेदी जी को अपनी पत्नी के अपढ़ और गँवार होने का वाक़ई बहुत मलाल था। वह ज़माना और था, यह ज़माना और है। दुनिया बहुत बदल गयी है और बड़ी तेज़ी से बदलती जा रही है—लेकिन खुद उनके लिए बदल पाना बहुत मुश्किल था, उनके पांव काठ में पड़े हुए थे। उनकी पत्नी अगर पढ़ी-लिखी होती तो वह भी उसे साथ लेकर घूम सकते थे, मिनिस्टरों के यहाँ आ-जा सकते थे, सभा-सोसायटी में उठ-बैठ सकते थे, तमाम बातें हो सकती थीं। पत्नी महिलाओं के बीच देशसेवा करती, मैं पुरुषों के बीच देशसेवा करता, कमाई भी दूनोंदून होती, यश भी दूनोंदून मिलता! नहीं तो सब गुड़-गोबर हो गया!

चतुर्वेदी जी के मन की गति कुछ विचित्र ही थी। वह स्वयं उसको समझ न पाते थे और शायद इसीलिए उनको और भी ज्यादा झुँझलाहट मालूम होती थी। पहले बात ज़्यादा ठीक थी। घर से उनका वास्ता बस खाने और सोने का था। इस सीमा में रहते हुए वह अच्छे पति भी थे और वत्सल पिता भी। उन्होंने ज़िन्दगी में यही नक़्शा देखा था। दूसरा भी कोई नक्शा होता है या हो सकता है, इसकी उन्हें चेतना भी न थी। इसलिए यहाँ पर तो उनको निर्दोष कहना होगा। जहाँ सभी स्त्री को पैर की जूती समझते हों वहाँ किसी के लिए दूसरा कुछ समझना आसान भी तो नहीं। लिहाज़ा वह चीज़ जैसी थी अपनी जगह पर बिलकुल ठीक थी। लेकिन इधर आकर मुसीबत यह हुई कि चतुर्वेदी जी के मन में एक नयी लालसा

यह जगी कि उनकी पत्नी पढ़ी-लिखी होती, सभ्य समाज में उठ-बैठ सकती।

यह कोई बुरी लालसा न थी मगर इसमें एक बड़े अचरज की बात यह थी कि चतुर्वेदी जी के ध्यान ही में यह बात न आयी कि यह जो नयी बात वह सोच रहे हैं उसका कोई संबंध उस पैर की जूतीवाले सिद्धान्त से नहीं है। और इसीलिए उनकी दृष्टि में भी कोई परिवर्तन नहीं आया, अपनी अनपढ़ किन्तु पतिप्राणा पत्नी के प्रति कोई नयी संवेदना नहीं जागी, उल्टे पशुसुलभ प्रतिक्रिया के रूप में एक क्रूर असन्तोष उनके हृदय में जमकर बैठ गया और भीतर ही भीतर ज़हर घोलने लगा। उफ़, कैसी मूर्खा के संग मुझे जीवन निर्वाह करना पड़ रहा है!

ये विचार उन्हें पहले कभी न आकर अब जो आ रहे थे उसका एक कारण शायद यह भी था कि चौबाइन अब बूढ़ी हो चली थीं और वे स्वयं भी अधेड़ हो गये थे। अब उनके शरीर में वह पुरानी तेज़ भूख न थी और जो कुछ भूख थी उसको अब किसी तेज़ चरपरे खाने की तलाश थी वैसे ही जैसे एक तरफ़ किसान का तन्दुरुस्त नौजवान बेटा कड़कड़ाती भूख लगने पर जौ की मोटी मोटी लिट्टी और प्याज़ की एक गाँठ में पूर्ण तृप्ति पा लेता है और दूसरी तरफ़ अंग-संचालन से विरत होकर दिन-रात पलंग तोड़नेवाले राजा साहब या महंत जी, जिन्होंने जीवन में एक बार सच्ची भूख नहीं जानी, अपने लिए छत्तीसो व्यञ्जन तैयार करवाते हैं और तब भी अतृप्त रह जाते हैं।

यही हाल चतुर्वेदी जी का था। चौबाइन ढल गयी थीं, चालीस के पेटे में आ गयी थीं। देखने-सुनने में वह कोई बुरी भी न थीं और न कोई उन्हें रूपसी ही कह सकता था। जैसी

अधिकांश स्त्रियाँ होती हैं वैसी ही वह भी थीं। यौवन के साथ मिलकर साधारण रूप भी चमक उठता है और बिना यौवन के तो असाधारण रूप भी मंद पड़ जाता है। बिना यौवन के भी एक बार खड़े रह सकने का साहस केवल सौन्दर्य में होता है लेकिन वहाँ सौन्दर्य आत्मा का सौन्दर्य बनकर जीने लगता है, जो कभी बूढ़ा नहीं होता, जो निरन्तर अपना रूप बदलते हुए भी सुन्दर बना रहता है। पर उस सौन्दर्य को देख सकने के लिए दृष्टि में कुछ कविता चाहिए जो कि यहाँ नहीं थी। चतुर्वेदी जी की आंखें एकदम स्थूल थीं। शायद इसीलिए जीवन-भर उन्होंने चौबाइन को केवल नारी के रूप में देखा, सम्पूर्ण मानवी के रूप में नहीं। चौबाइन की आत्मा उनके लिए एक बंद किताब रही आयी।

इसलिए चतुर्वेदी जी को अब सभी कुछ बहुत खल रहा था और वह समझ नहीं पा रहे थे कि पत्नी के संग उनके संबंधों का अब क्या रूप हो, क्या राशि हो। चौबाइन अगर सम्पूर्ण रूप में चतुर्वेदी जी की जीवन-संगिनी होतीं तो उनका ढल जाना भी कोई परीशानी की बात न होती क्योंकि यों देखिए तो चतुर्वेदी जी ही अब कहाँ के बड़े गबरू जवान धरे थे। और फिर साथ-साथ बुड्ढे होने में भी अपना एक रस है, एक अनूठा सौन्दर्य है मगर वह एक ऐसी चीज़ है जो खुद देखनी पड़ती है।

चतुर्वेदी जी के पास वह आंख न थी लिहाज़ा उनके मुँह का स्वाद बिगड़ गया और वह तीन कोने का मुँह बनाकर बैठ गये। वही चतुर्वेदी जी जो बाहर बराबर मुस्कराते रहते थे, घर में दाखिल होते ही ऐसा रद्दी मुँह बना लेते कि जैसे बोतल भर

सिरका उन्हें एक घूँट में पिला दिया गया हो या कि जैसे किसी ने मिठाई का दोना उनके हाथ से छीनकर उन्हें चार तमाचे रसीद किये हों और बैरंग घर भेज दिया हो। एक अर्से से घर के लोगों ने उनके चेहरे पर मुसकराहट नहीं देखी। यहाँ तक कि जब चौबे जी खाना खाने चौके में आते और चौबाइन उन्हें थाली परोसकर हाथ में पंखा लेकर उन्हें खिलाने बैठतीं तब भी उनका मुँह सीधा न होता। वह पत्नी से न कुछ बोलते न आँख मिलाते, बस थाली में आंख गड़ाये-गड़ाये खाते रहते। चौबाइन सोचतीं कि स्वामी को न जाने किस बात की इतनी गहरी चिन्ता है, लेकिन आत्मीयता के दो शब्द बोलने में भी डरतीं कि कहीं पंडित जी उन्हें झिड़क न दें।

इस तरह घर के अन्दर एक विचित्र तनाव था। ग़नीमत यही थी कि चतुर्वेदी जी का ज़्यादा समय घर के बाहर बीतता था। विस्फोट का अवसर इसलिए न आने पाता था मगर ज़हर सबकी ज़िन्दगी में घुल रहा था और वह सबसे ज़्यादा दिखायी दे रहा था लड़कों की ज़िन्दगी में। माता-पिता तो जैसे अब जीवन के अंतिम अध्याय पर पहुँच रहे थे, मगर लड़के? वह कैसे जीते—इतनी अशांति, इतना क्षोभ, इतनी कटुता, इतना रीतापन लेकर?

एक एक बच्चे पर दंपति के मृत प्रेम की छाया थी। बच्चे सचमुच एक आईना हैं जिसमें मां-बाप का प्रेम—या उसका न होना—साफ़-साफ़ झलकता है।

किशन की उम्र अब ब्याह के योग्य हो गयी थी, ज़िन्दगी ने एक राह भी पकड़ ली थी, मजे में खेती से लगा हुआ था और लगा रहने वाला था, अब उसे ब्याह करके घर बसाना

चाहिए था। मगर किशन पुट्ठे पर हाथ नहीं रखने देता था। बहुत बार बहुत तरह से उसके मुँह में लगाम देने की कोशिश की गयी मगर हर बार वह नये बछेड़े की तरह कूदकर दूर जा खड़ा हुआ। पहले चतुर्वेदी जी और चौबाइन ने समझा कि यह उसकी सहज लज्जा है, शील है, संकोच है मगर फिर धीरे धीरे उनकी समझ में आने लगा कि बात कुछ और है।

उधर प्रताप पर वामपन्थी विचारधारा का गहरा असर दिखायी दे रहा था जो चतुर्वेदी जीको अपने लिए घोर लज्जास्पद बात मालूम होती थी। उनका अपना बेटा? छी छी! वामपन्थियों से चतुर्वेदी जी को बड़ी सजीव घृणा थी। इतनी कि उनका ज़िक्र निकलने पर चतुर्वेदी जी को अपनी ज़बान पर क़ाबू न रह जाता और वह जो मुँह में आता बक डालते। वैसे चतुर्वेदी जी खासे संयत, शालीन व्यक्ति थे। लेकिन ख़ास उनका बेटा, उनका औरस पुत्र देशद्रोहियों के दल में जा मिले—यह बात भी तो साधारण नहीं कही जा सकती। कितनी लज्जा की बात है! लोग क्या कहेंगे!

चतुर्वेदी जी का तीसरा बेटा हरी कुछ अजीब पागल-सा था, पागल क्या सिड़ी कहना चाहिए। इधर डेढ़ साल से पढ़ाई छुड़ाकर उसे घर पर बिठाल दिया गया था।

और जहाँ तक चौथे बेटे प्रह्लाद की बात थी वह मैट्रिक का विद्यार्थी था और नम्बर एक का आवारा था, पक्का लोफ़र, कोई करम उससे बाक़ी न था। नम्बर बढ़वा-बढ़वाकर तो मैट्रिक तक आया था और आगे भी शायद यही करना होगा।

मगर तो भी अपने सब बेटों में चतुर्वेदी जी को सबसे ज़्यादा चिढ़ प्रताप से थी, भले उसमें दूसरा कोई चारित्रिक

दुर्गुण न हो। प्रताप जब-जब छुट्टियों में घर आता तब-तब बाप-बेटे में महाभारत छिड़ता और जरूर छिड़ता। प्रताप भी जली-कटी सुनाने में कोई कसर उठा न रखता। चतुर्वेदी जी उसके व्यंग-शरों से तिलमिला उठते। हुकूमत की कौन पोल थी जो प्रताप को मालूम न थी? मगर चतुर्वेदी जी भी उसको ऐसी-ऐसी लगाते कि बच्चा को छठी का दूध याद आ जाता।

शायद इन्हीं सब कारणों से चतुर्वेदी जी को सबसे ज्यादा अपने घर में रहना खलता था। घर कैसे किसी को अपने पास बुलाता है यह बात उनके क़यास के बाहर थी। नतीजा था कि घर के उस विराट् रीतेपन को वह अपनी बाहर की ज़िन्दगी से भरने की कोशिश करते और पैर में चक्कर बाँधकर यहाँ से वहाँ, वहाँ से यहाँ घूमा करते, यहाँ तक कि जब वह अपने गाँव में भी होते तब भी उनका पूरा वक़्त जनपद के कार्यालय में ही बीतता। वहीं बैठे-बैठे वे अर्थोपार्जन की अपनी नयी नयी योजनाएँ बनाया करते, नयी-नयी तिकड़में सोचा करते। मगर इस बात को खयाल में लाते उन्हें डर लगता कि यह सब क्यों, किसलिए, किसके लिए? यह जो सोने की ईंटें वे जोड़ रहे थे, कौड़ी-कौड़ी को दाँत से पकड़ रहे थे, दिन में बहत्तर बार अपने ईमान को बेच रहे थे, वह क्यों? क्या हासिल उससे? यह सब आखिर घर के सुख के लिए ही तो था (घर का सुख!) कौन उन्हें छाती पर रखकर ले जाना है, पर भगवान् की यह कैसी माया है कि उनका घर उन्हीं के लिए एक पागलखाना बन गया है जिसमें सब अलग-अलग अपने काठ के घोड़े दौड़ा रहे हैं और सब पागल हैं और कोई किसी की बात नहीं समझता....

अब तो चतुर्वेदी जी ने इसके बारे में सोचना ही छोड़ दिया था और धीरे-धीरे अब वह उस निर्द्वन्द्व भूमि पर पहुँच गये थे जहाँ उनका अन्तःकरण भी निश्चेष्ट हो गया था, मृतवत्, और पैसे की एकान्त, अविकल, निरुद्देश्य साधना ही उनके जीवन का अकेला संबल बच रही थी !

चतुर्वेदी जी के जीवन में अब कहीं प्रश्न न थे, बस उत्तर, सधे हुए उत्तर।

१० अर्जुन का मत्स्यवेध

सभा भवन के ऊबे हुए अलसाये हुए वायुमण्डल में आज बिजली के शरारे दौड़ रहे हैं। चपरासियों और बाबुओं के पैरों की मेंहदी भी छूट गयी है और वे दौड़-दौड़कर काम कर रहे हैं। आज विश्राम कक्ष विधवा की मांग की तरह सूना पड़ा है।

कौरवों-पाण्डवों की सेनाएँ सज रही हैं। आज यहाँ महा-समर होगा। विरोधी पक्ष ने पुलिस के बढ़ते हुए अत्याचारों के विरोध में सरकार के खिलाफ़ अविश्वास का प्रस्ताव लाने की नोटिस दी है।

न्याय और सुरक्षा के विचार से सभा भवन के चारों ओर पुलिस का पहरा बीस गुना बढ़ा दिया गया है। चार-चार छः-छः कदम की दूरी पर सिपाहियों के आठ-आठ दस-दस के गुच्छे खड़े हैं। उनकी खूब-खूब घिसकर चमकायी हुई संगीनें धूप में और भी चमक रही हैं। और उनकी आँखों में कुटिल इशारे

हैं। घुड़सवार दस्ते बड़ी आन-बान के साथ अपने दीवार-जैसे ऊँचे घोड़ों पर कतार बाँधे खड़े हैं। पुलिस लाइन के घोड़ों का क्या कहना! इतनी जांफ़िशानी से वह मले-दले गये हैं और इतनी अच्छी उनकी ख़ूराक है कि उनके जिस्म बिलकुल सांचे में ढले हुए नज़र आते हैं। उनके मज़बूत पुट्ठे हुकूमत की ताक़त के खंभे हैं और उनकी खाल में ऐसा मख़मली चिकनापन है जो बड़ी से बड़ी सुन्दरी को भी लजा दे।

काश कि मुल्क के इन्सानों को वह देख-भाल, वह ले-लपक, वह ख़ूराक मिल सकती जो इन घोड़ों को मिलती है!

मगर वह कैसे हो, किस तर्क से? मुल्क के इन्सान तो हुकूमत की ताक़त के खम्भे नहीं हैं और ये घोड़े हैं। दोनों में फ़र्क तो होगा ही। इन्साफ़ की बात है।

अब इसी वक़्त देखिए न, कैसी शानदार सजीली यह दीवार खड़ी है। इस दीवार को देखकर किसकी आँखों में नशा न उतर आयेगा! वाजिब है कि हुकूमत इस दीवार का सहारा लेती है। कोई इसे चीरकर अन्दर नहीं जा सकता। इसीलिए तो यह दीवार यहाँ पर खड़ी की गयी है। वर्ना बड़े बेवकूफ़ होते हैं ये कुली-कबाड़ी, ये लल्लू-बुद्धू, स्कूल-कालेज के ये तमाशाई छोकरे जिन्हें हर वक़्त बस तमाशा चाहिए। इन्हें भड़काना बहुत आसान है। किसी ने दो-चार गरम-गरम बातें कीं, यहाँ-वहाँ के सब्ज़ बाग़ दिखाये और ये भड़क गये। अपने भले-बुरे की इन्हें कुछ तमीज़ नहीं। इसलिए ज़रूरी था कि आज इस मौक़े पर लाव-लश्कर का ठीक इन्तज़ाम रहे।

ठीक बारह बजे स्पीकर महोदय के आगमन की घोषणा हुई और दूसरे ही क्षण चमचमाती हुई सफ़ेद महीन खादी में आपादमस्तक वेष्टित स्पीकर महोदय ने आकर अपना आसन ग्रहण किया और सभा की कार्रवाई शुरू हुई।

आज कार्य-सूची में प्रश्नों के घंटे के बाद सबसे पहली चीज़ यही अविश्वास का प्रस्ताव था।

प्रस्ताव रखते हुए सबसे पहले विरोधी पक्ष के नेता बोले। उनके बाद प्रस्ताव का समर्थन करने के लिए रामसिंह खड़ा हुआ।

रामसिंह नयनपुर के इलाके से चुनकर आया हुआ विरोधी पक्ष का—और पूरी विधान-सभा का—सबसे नौजवान सदस्य था। अभी उसकी उम्र मुश्किल से तेइस-चौबिस साल थी। और उसके चेहरे की बनावट कुछ ऐसी थी कि वह इससे भी कम मालूम होता था। बिलकुल छोकरा-सा नज़र आता था और उसे देखकर हैरानी होती थी कि इतनी छोटी उम्र में कैसे उसका इतना नाम हो गया कि वह बिलकुल अपने बल-बूते पर, स्वतंत्र उम्मीदवार की हैसियत से अपने विरोधी उम्मीदवार को, जो कांग्रेस की एक बड़ी तोप थे, ज़मानत ज़ब्त कराके विधान-सभा में आ बैठा।

रामसिंह का मिज़ाज काफ़ी गर्म था। गुस्सा आने में उसे देर नहीं लगती थी। स्वभाव में खासा रूखापन भी था। मिज़ाज की कोई नफ़ासत उसके यहाँ ढूँढ़े न मिलती थी। एकदम ठेठ अक्खड़ आदमी था। मौक़ा-महल देखकर बातें करना,

बातों में मिश्री घोलना, बेमतलब हँसना-मुसकराना—यह सब कुछ भी उसे न आता था। ऐसा आदमी ज़रा मुश्किल ही से लोकप्रिय हो पाता है। लेकिन तब भी पता नहीं क्यों लोग उस पर जान देते थे। होगी, कोई बात होगी। शायद यही कि वह सच्चा था, निडर था और उसके लहू के कतरे-कतरे में ग़रीब का दर्द था, जो कि उसका अपना दर्द था।

वह एक ग़रीब अनपढ़ मां का बेटा था और बराबर तकलीफ़ की गोद में पला था। उसकी मां ने कूट-पीसकर, लोगों के बर्तन माँजकर, तेल की पकौड़ियाँ बेचकर, पड़ोसियों के कपड़े सीकर उसे पाला था, बड़ा किया था। जहाँ अगले जून की रोटी का ठिकाना न हो वहाँ पढ़ने-लिखने का क्या ज़िक्र। बारह बरस की उम्र तक रामसिंह को अक्षर से भेंट नहीं थी। बाद में संयोग से एक मेहरबान मिल गये जिन्होंने रामसिंह को अपने पास रखकर पढ़ाया। वह खुद भी पैसेवाले न थे (और अच्छा ही था वर्ना ग़रीब के लिए दो पैसे उनकी टेंट से कैसे निकलते ?) मगर उन्हें कभी किसी वक़्त इस लड़के में कोई ऐसी चीज़ नज़र आयी कि उन्होंने एक रोटी के दो टुकड़े करना मंजूर किया। रामसिंह की मां उनके यहाँ सेवा-टहल पर लग गयी और रामसिंह घर पर ही पढ़ने लगा। आज भी रामसिंह के पास डिग्री नाम की चीज़ एक नहीं है और कोई चाहे तो उसे अनपढ़ भी कह सकता है, कुछ लोग कहते भी हैं। मगर रामसिंह अनपढ़ आदमी नहीं है। वह पढ़ा-लिखा आदमी है, बहुत पढ़ा-लिखा आदमी है। वैसा पढ़ा-लिखा आदमी सारी विधान-सभा में दूसरा नहीं है। पैसे के ज़ोर से पढ़ा हुआ आदमी उस आदमी का क्या मुक़ाबला

करेगा जो अपनी हिम्मत, अपने पौरुख से पढ़ा हो, जिसने पुरानी-धुरानी फटी-चिन्दी किताबों को माथे पर लगाकर पहली बार यों डरते-डरते सहमते-सहमते छुआ हो जैसे कोई अछूत किसी देवस्थान की ड्योढ़ी को, जिसके भीतर जाना उसके लिए निषिद्ध है....और फिर दूसरी बार उन्हीं किताबों को बड़े प्यार से सहलाया हो, बार-बार सहलाया हो, आँखों से लगाया हो और रोया हो, ज़ार-ज़ार रोया हो और उनसे बातें की हों कि तुम अब तक कहाँ थीं ? क्यों तुमने इतने बरसों तक मुझको इस अँधेरे में रक्खा !

बहुत बार अनजाने में ही उसकी किताबों के वर्क़ गीले हो जाते ।

और फिर धीरे-धीरे उसका आत्मविश्वास बढ़ा और तब वह किताबें उसके लिए प्रेयसी के गुलाबी होंठ बन गयीं जो रात दिन रस-पान के बाद भी उतना ही ताज़ा, उतना ही नया, उतना ही मीठा, उतना ही गुलाबी बना रहता है ।

जिसने कभी अँधेरा नहीं जाना वह रोशनी की क़ीमत क्या समझेगा । प्रभात को कृतज्ञता से प्रणाम करता है वह जिसने रात के गहन अँधेरे को अपने भीतर ढोया है । रामसिंह की ज़िन्दगी ऐसी ही एक लंबी रात थी । इसलिए जब पहली बार उसे रोशनी की किरन मिली तो उसने दाँत से उसे पकड़ा और अपने भीतर के अँधेरे से लड़ना शुरू किया—और लड़ता रहा लड़ता रहा जब तक कि सुबह न हो गयी ।

दस बरस के कठिन तप से उसने वेद-वेदांग, शास्त्र-पुराण, इतिहास, राजनीति, साहित्य-संस्कृति सबको करायत्त

किया। और उसके जीवन की पीड़ा में से ज्ञान का सहस्रदल खिला।

अब वह अपनी जानी-पहचानी उसी पीड़ा पर विजय करने निकला है।

एक ऐसी कठिन खोह में उसकी ज़िन्दगी कटी है जिसमें किसी बाह्य कोमलता के लिए कहीं जगह न थी, जहाँ बस संघर्ष था—झूठ से, कमीनेपन से, जहालत के अँधेरे से, ज़िन्दगी को पीसती हुई चट्टानों से।

जिस आदमी ने बचपन की बेफ़िक्र उछलकूद और जवानी का मस्त खिलंडरापन जाना ही नहीं उसके अंदर तो वह चीज़ पहले ही मर गयी जो आदमी को कोमल बनाती है। यों कहें कि मैदान की हरी दूब को गर्म हवाओं ने झुलस दिया था—मगर उसकी जड़ों में अब भी कहीं गीलापन था जो नज़र नहीं आता मगर होता है। रामसिंह अब उस पत्थर के समान था जिसका अंतस् सजल होता है। बाहर से पत्थर, भीतर से पानी।

जो खुद तकलीफ़ की गोद में पले हैं वह इस आंतरिक सजलता को पहचान लेते हैं—कैसे, यह बतलाना कठिन है। शायद इसीलिए स्वभाव के उस अक्खड़ रूखेपन के बावजूद लोग उसको प्यार करते थे। वह उनका अपना आदमी था। यह तो और भी अच्छा था कि वह रूखा था क्योंकि उन्हें अपने तजुर्बे से मालूम था कि जो लोग ऊपर से बहुत चिकने होते हैं वह अकसर हाथ से फिसल जाया करते हैं!

रामसिंह बोलने खड़ा हुआ। सभा भवन में सन्नाटा छा गया।

'हमारे माननीय मन्त्रीगण बारबार हमको बतलाते हैं कि हमारे यहाँ जनता का राज है। हम कुछ नहीं कहते। हम चुप हैं। तब वह और ज़ोर से अपनी बात दुहराते हैं। हम तब भी कुछ नहीं कहते। हम तब भी चुप रहते हैं। तब वह आकर हमारे कंधों को पकड़कर झकझोरते हैं और कहते हैं, तुम भी कहो। तब हम हँस देते हैं और कहते हैं, भाई, छोड़ो इस बात को, कुछ और बात करो। देखो आज का दिन कितना खूब-सूरत है। मगर वह तब भी मानते। तो हम कहते हैं, देखो मज़ाक़ को मज़ाक़ की हद तक ही रहने दो, उसको पीटो मत। तुम कहते हो जनता राज, हम माने लेते हैं जनता राज। चलो छुट्टी हुई। मगर नहीं वह हमारे हलक़ में उँगली डालकर हमसे हामी भरवाना चाहते हैं। तो फिर जनाब, हम भी आदमी हैं और हमको भी गुस्सा आता है और मैं आपसे पूछता हूँ, कहाँ है आपका जनता राज? ज़रा इस हॉल से बाहर निकलकर देखिए, यही आपके जनता राज का नक़्शा है? यह अरबी-इराक़ी घोड़ों की दीवार, यह राइफ़ल की नली, यह चमकती हुई संगीनें, यह आँसू गैस के दस्ते—यही आपका जनता राज है?

'स्पीकर महोदय, वह झूठ बोलते हैं और वह भी इस बात को जानते हैं। वह चाहते हैं कि लोगों पर उनकी सत्ता का आतंक रहे। वह सच्ची मुहब्बत से राज करना नहीं चाहते क्योंकि उनको मुहब्बत की ताक़त का भरोसा नहीं है और यही उनके दिल का चोर है। मैं जानता हूँ वह मीठे-मीठे शब्दों से राज

करना चाहते हैं, जब तक मुमकिन हो—और जब यह मुमकिन न हो तब वह संगीनों से राज करते हैं ! वह व्यर्थ गाँधी का नाम लेते हैं, अहिंसा का नाम लेते हैं। उनको उनमें रत्ती भर आस्था नहीं है। 'कानून' 'वैधानिकता' 'जनता राज', सब भरे पेट के नारे हैं, बोलने में सुगंधित, सुनने में मीठे—जब तक कि गद्दी पर आँच नहीं आती ! और जहाँ गद्दी पर आँच आयी कि कहाँ का जनता राज और कहाँ का क्या, असल राज डंडे का है, बोलो पुलिस भगवान् की जय !'

सभा भवन में खलबली मचती है। मेजें पीटी जाने लगती हैं। आपत्ति के अनेक स्वर एक साथ सुनायी देते हैं। पर रामसिंह अविचलित खड़ा रहता है और ज़रा देर रुककर फिर अपनी बात कहने लगता है—

'इसमें उनका कोई क़सूर नहीं है। इतिहास के सब राज करनेवालों ने यही किया है। मैं उनसे कहता हूँ आप जो कुछ करते हैं सब ठीक करते हैं, मगर यह मासूम मेमने की खाल जो आपने ओढ़ रक्खी है इसको उतार फेंकिए !'

आर्डर आर्डर का शोर होता रहा। मेजें बजती रहीं। रामसिंह बोलता रहा।

'वह लोग सुबह-शाम, दिन-रात, चौबीसो घंटे बापू का नाम लेते हैं पर मैं उनसे पूछता हूँ बापू ने कब यह कहा है कि वह देश को भूखों मारकर पुलिस का पेट भरें ? दूसरे सारे काम पैसे की कमी के कारण रुक सकते हैं मगर पुलिस का कोई काम कभी पैसे की कमी के कारण नहीं रुकता। नित नये टैक्स लग रहे हैं। टैक्स लग लगकर एक एक आदमी की ज़िन्दगी इस मुल्क में पहाड़ हो गयी है, मगर दिखायी कुछ नहीं देता कि वह

अरबों रुपया कहाँ चला जाता है। दिखायी देती है बस उनकी यह पुलिस और उनके ये बड़े-बड़े ठेकेदार जिनकी तोंद में यह सारा पैसा जाकर इकट्ठा हो जाता है।'

इस बार फिर तुमुल रोर उठा पर रामसिंह बैठने के लिए नहीं उठा था। गरजकर बोला—आप मुझे चुप नहीं कर सकते ....

'जनता राज! जनता राज! जनता राज तभी तक जब तक जनता भेड़ है और इधर जनता में ज़रा-सी जुम्बिश हुई उधर हुकूमत के बरकन्दाजों ने अपनी राइफ़लें सँभाल लीं।.... पुलिस का महकमा हुकूमत का लाड़ला है। पुलिस की कोई शिकायत सुनने के लिए हुकूमत तैयार नहीं है। इंग्लिस्तान के बादशाह की तरह हिन्दोस्तान की पुलिस कभी कोई ग़लत काम नहीं करती! और अगर कोई ऐसी बात कहता है तो वह झूठ बोलता है, उसको पकड़कर पुलिस की हिरासत में डाल दो और फिर अच्छी तरह मरम्मत करो, हाँ-हाँ अच्छी तरह मरम्मत करो, डरो मत, मर जाता है तो मर जाने दो, मत डरो, हमारे पास हर चीज़ का जवाब मौजूद है!

'पुलिस को आज बादशाह बना दिया गया है। पुलिस के सारे खून माफ़ हैं—और अगर पुलिस मुझसे खुश है तो मेरे भी खून माफ़ हो जायेंगे, दिन दहाड़े मैं अगर किसी का क़त्ल भी कर दूँ तो मेरा बाल बाँका न होगा!'

रामसिंह ने ठाकुर परदुमनसिंह की ओर देखा। ठाकुर साहब का चेहरा ज़रा देर के लिए फीका पड़ गया और फिर वह दुगनी तत्परता से मुसकराने लगे—क्या ऊलजलूल बक रहा है।

'और पुलिस को खुश करना मुशकिल बात नहीं है। हर कोई जानता है पुलिस किस बात से खुश होती है। बस उस चीज़ का इन्तज़ाम रखिए, फिर जो जी में आवे कीजिए, कोई माई का लाल आपका हाथ नहीं पकड़ सकता। शहरों को क्या देखते हैं, गाँवों को जाकर देखिए। हिन्दुस्तान गाँवों में बसता है। आज वहाँ पर लाल पगड़ी का वह एकछत्र राज है जो अंग्रेज़ अमलदारी में भी नहीं........'

हुँः बकनेवाले बकते रहते हैं! कुछ लोगों का यही पेशा होता है। कुत्ते भूँकते रहते हैं हाथी अपनी राह चला जाता है। जब तक विधान सभा में हमारा बहुमत पक्का है यानी यह बात पक्की है कि पीछे से डोरी खिंचते ही हमारी कठपुतलियों के हाथ खड़े हो जायेंगे तब तक हमें किस बात का डर है! जितना जी चाहे, बोलो। बोलते-बोलते चाहे खून थूककर मर ही क्यों न जाओ!

११ नक़द देशसेवी

शाम को सेशन ख़त्म होने पर जब लोग बाहर आये तब पंडित रमाबिहारी चतुर्वेदी ने बड़ी चौड़ी मुसकराहट से रामसिंह का स्वागत किया और जैसे उसके आँसू पोंछने की ग़रज़ से बोले—बातें तो भाई तुमने बड़े पते की कहीं !

रामसिंह ने कहा—मगर वोट तो पंडित जी आपने खिलाफ़ दिया....

चतुर्वेदी जी बोले—हें हें, वह तो देखिए....

और नमस्कार करके तेज़ी से बाहर निकल गये। उन्हें ज़रा जल्दी थी। एक आदमी का कुछ काम उन्हें करना था। उसी सिलसिले में विकास मन्त्री से मिलना था।

मामला यह था कि चतुर्वेदी जी के इलाक़े में ही एक कोयले की खान में एक बड़ी दुर्घटना हो गयी थी जिसमें खान के एकाएक बैठ जाने से बारह आदमियों की जान चली गयी थी और करीब तीस लोग घायल हुए थे। इस काण्ड को लेकर अखबारों में ख़ासा वावेला मचा हुआ था। लोगों का कहना

था कि यह खान पहले ही से ख़तरनाक थी और जानकार लोगों ने दो बरस पहले कह दिया था कि उसमें काम न लगाना चाहिये। मगर खान के मालिक ने लालच के मारे उसमें काम नहीं बन्द किया—और आख़िरकार यह भयानक काण्ड हो ही गया। अब खान के मालिक को यह चिन्ता थी कि कहीं उसका लैसन न छिन जाय और उसको हरजाने की बहुत बड़ी रक़म न भरनी पड़े।

खान का मालिक कोई हैवान तो था नहीं, वह भी आखिर इन्सान था। उसके दिल में भी इन्सान का दर्द था—लेकिन उचित मात्रा में। यह नहीं कि वह बिलकुल हरजाना न देना चाहता था मगर इतना भी नहीं कि कोई हिसाब-किताब ही न रहे। व्यापारी आदमी था, उसका सब काम हिसाब-किताब से होता था! उसे पता था कि आज के इस महँगे ज़माने में एक ही चीज़ सबसे सस्ती है, आदमी की ज़िन्दगी। इसलिए हरजाने की रक़म भी वह उसी हिसाब से देना चाहता था—जो मारे गये थे उनके घरवालों को दो दो सौ रुपये और घायलों को पचीस-पचीस रुपये। इस तरह तीन हज़ार से ऊपर का हिसाब था। इससे ज़्यादा कोई और क्या दे सकता है? मगर अख़बारवालों ने तो कुछ और ही तान छेड़ रक्खी थी। उनको क्या, किसी के घर में आग लगे, उनको तो हाथ सेंकने से मत-लब। लिहाज़ा उन बदज़ातों ने शोर मचा रखा था कि इस दुर्घटना की जाँच के लिए जनता के नुमाइन्दों की कमेटी बिठाली जानी चाहिये। बेचारे के लिए खासी मुसीबत का सामना था। जो मर गये वह तो मुक्ति पा गये, अब इस ग़रीब की गर्दन फँसी थी। जिसकी मौत आ गयी थी उसको कौन बचा

सकता था, मगर लोग थे कि इसी बेचारे का टेंटुआ दबा रहे थे कि जैसे वही उनकी मौत के लिए ज़िम्मेदार हो। कैसी मूर्खता की बात है! भगवान् पर लोगों को अब बिलकुल श्रद्धा नहीं रही!

बहरहाल, लोग जब शोर मचा रहे थे तो उनका मुँह तो जैसे भी हो बन्द करना ही था। हीरा जी से यह बात छिपी नहीं थी कि हर आदमी की एक कीमत होती है जिस पर वह बिक जाता है। लेकिन तो भी पैसे का खर्च तो था न!

कुछ टुटपूँजिये अखबार तो जैसे बिकने के लिए तैयार बैठे थे। कुछ अजब नहीं कि उन्होंने इसी इरादे से इस खबर को उछाला हो। ये थोड़ी रक़म में बिक जानेवाले पर्चे थे और हीरा जी ने इन्हें खरीद लिया। अगली सुबह से उनका राग बदलने लगा। राग अगर यकबयक बदल जाता तो पढ़नेवालों को शक हो सकता था। इसलिए राग को धीरे-धीरे बदलना ज़रूरी था। तीन चार दिन में राग पूरी तरह बदल गया।

जो बड़े अखबार थे उनके पेट भी बड़े थे। दूसरे उनके मालिक बहुत ही पैसेवाले लोग थे जो इस मौक़े को इस्तेमाल करके हीराजी को हमेशा के लिए नीचे गिरा देना चाहते थे ताकि वह खानें उनके हाथ लग जायँ। लिहाज़ा उनकी तान ऊपर को ही चढ़ती जा रही थी। ऐसी सूरत में हीरा जी को अब यह फ़िक्र सवार थी कि जाँच पबलिक कमीशन नहीं सरकारी कमीशन करे और उस कमीशन के मेंबर ऐसे लोग हों जिन तक उनकी पहुँच थी। जहाँ तक पहुँच का सवाल था, हीरा जी की पहुँच सभी तक थी। मगर इस मामले में उन्होंने खुद आगे न आकर अपने परम मित्र पंडित रमाबिहारी चतुर्वेदी को आगे

करना ज़्यादा ठीक समझा। चतुर्वेदी जी की हीरा जी से दोस्ती थी सही, मगर ऐसे कामों के लिए चतुर्वेदी जी की फ़ीस मुक़र्रर थी। दो हज़ार रुपये नक़द गिनवाने के बाद अब पंडित रमाविहारी चतुर्वेदी विशुद्ध देशसेवा के विचार से हीराजी के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक कर रहे थे। इसीलिए वह रामसिंह से बात करने के लिए नहीं रुक सके और आगे बढ़ गये।

१२ मास्टरपीस

पंडित रमाबिहारी चतुर्वेदी सभा भवन से निकलकर अभी मुशकिल से पचास क़दम गये होंगे कि दूसरी तरफ़ से स्वामी परमानंद आते दिखायी दिये। स्वामी परमानंद कोई स्वामी न थे, यह महज़ नाम था—जैसे और कोई नाम वैसे यह नाम।

स्वामी परमानन्द किसी तरफ़ से साधू-संन्यासी नहीं थे। गेरुआ वस्त्र जरूर पहनते थे लेकिन वह सिर्फ धोबी की इल्लत को कम करने के ख़याल से न कि किसी धार्मिक विचार से और न किसी को धोखा देने के लिए ही। तो भी लोग अगर उनके नाम और गेरुए वस्त्र से धोखे में आ जाते थे तो इसमें उनका क्या कसूर। वह शपथपूर्वक कह सकते थे कि समाज को धोखा देना उन्हें इष्ट न था।

स्वामी परमानंद स्वामी तो नहीं थे मगर उनकी गहरी आस्तिकता सन्देह से परे थी। वह पक्के वैष्णव थे। माथे पर बड़ा भारी-सा त्रिपुण्ड लगाते थे। खूब हट्टी-कट्टी देह थी। उस पर वह गेरुआ वस्त्र और त्रिपुण्ड खूब ही सजता था। सचमुच

बड़ा दिव्य व्यक्तित्व था। पचपन की अवस्था हो रही थी मगर अब तक उन्हें बराबर सन्तानें होती जा रही थीं। स्वामी जी को कुल मिलाकर चौदह सन्तानें हुईं जिनमें पांच को तो, श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, भगवान् ने उठा लिया और नौ जीवित थीं। इन नौ में सबसे बड़े कन्हैया जी थे जिनकी उम्र इस समय छत्तिस-सैंतिस की होगी और सबसे छोटी एक कन्या थी मीनाक्षी जो अभी साल भर की भी नहीं हुई थी। सन्तानों की यह तगड़ी फ़सल स्वामी परमानंद को एक ही खेत से नहीं प्राप्त हुई थी। उन्होने अब तक पाच ब्याह किये थे और उनकी वर्तमान पत्नी सुकेशी अभी केवल चौबिस वर्ष की थी और उनकी बड़ी लड़की शकुन्तला से ज़्यादा नहीं आठ साल छोटी थी।

घर-गृहस्थी की ये बातें स्वामी जी कभी किसी को नहीं बतलाते थे और ठीक भी था, ऐसी बातें कौन किसी को बतलाता घूमता है। धोती के नीचे सब नंगे होते हैं इस मारे कोई धोती खोलकर तो बाज़ार में नहीं घूमने लगता! किसी को इससे क्या मतलब कि मैंने पाच शादिया कीं या पन्द्रह शादियां कीं। बीवियां मरती गयीं तो मैं क्या करता? पूछिए, इसमें बहस किस बात की। यह तो मेरा निजी मामला है।

वैसे ही उनका नाम और उनका गेरुआ वस्त्र भी उनका निजी मामला था। दिखाइए क़ानून की किस किताब में लिखा है कि गृहस्थ आदमी का नाम स्वामी परमानंद नहीं हो सकता या कि वह गेरुआ वस्त्र नहीं पहन सकता! फ़िज़ूल टाँग अड़ाना दूसरों के मामलों में!

साधारण लोग वेदान्त की इन बारीकियों को क्या समझें। वह तो बेचारे अकसर नाम से और कपड़े से ही आदमी

की पहचान किया करते हैं। लिहाज़ा ज़्यादातर लोग स्वामी जी को उसी पुराने प्रचलित अर्थ में स्वामी समझते थे और यथोचित आदर-सत्कार देते थे। स्वामी जी को यह इष्ट न था कि लोग उनको उसी पुराने प्रचलित अर्थ में स्वामी समझें तथापि वे पूर्ण निष्काम भाव से उस आदर-सत्कार को ग्रहण कर लेते थे।

पता नहीं क्यों उनको देखकर पंडित रमाबिहारी चतुर्वेदी को बड़ी ईर्ष्या होती थी। संभवतः यह ईर्ष्या वैसी ही थी जैसी एक कलाकार को अपने से बड़े कलाकार को देखकर होती है। बाहर से देखनेवाले को बहुत बार यह स्थिर करने में कठिनाई होती है कि कौन ज़्यादा बड़ा कलाकार है। मगर जब दो सच्चे कलाकारों की टक्कर होती है तो बहुत बार देखा गया है कि उनमें से एक अपनी अंतश्चेतना से अनायास ही दूसरे कलाकार के आगे नति स्वीकार कर लेता है। स्वामी परमानंद के आगे चतुर्वेदी जी की स्थिति भी कुछ ऐसी ही थी।

सभी बड़े कलाकारों की भाँति स्वामी परमानंद ने भी एक बहुत चलती हुई दूकान खोल रखी थी। इस दूकान का नाम था 'हिन्दू-मुसलिम-सिख-ईसाई-सब-हैं-भाई-भाई।' नाम ज़रा बड़ा ज़रूर था और सलाहकारों ने स्वामी जी को मना भी किया था कि इतना लम्बा-चौड़ा नाम मत रखिए। इसमें तमाम दिक्कतें हैं। साइन बोर्ड पर इतना बड़ा नाम आ नहीं सकता, झण्डे पर आ नहीं सकता, यहाँ तक कि आप जनता से इसकी जय भी न बुलवा सकिएगा, आप जब तक नाम बोलिएगा, मैदान खाली .....मगर स्वामी जी ने सलाहकारों की एक नहीं सुनी, बोले—हम कोई कौमनिष्ट नहीं हैं कि चोरी-छिपे काम

करें। हमारे उद्देश्य हरदम जनता के सामने बिलकुल खुले हुए स्पष्ट रहने चाहिए। यही नाम ठीक है।

तो यही जो अभी आपको बतलाया उनकी दूकान का नाम था।

चतुर्वेदी जी को इस बात की दारुण मनोव्यथा थी कि यह दूकान भी उन्होंने क्यों न खोल ली? इस देशसेवा से वह कैसे वंचित रह गये?

स्वामी परमानंद की इस संस्था का काम था सभी हिन्दुस्तानियों को एकता की डोर में बाँधना। कितना पुनीत उद्देश्य! स्वामी जी के सर्वथा योग्य!

कौन नहीं जानता कि जाति और धर्म की खाइयाँ एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से अलग करती हैं। हिन्दुस्तान अनेक जातियों और धर्मों का देश है, बल्कि कहें महादेश है। तब क्या इसका यह मतलब है कि एक हिन्दुस्तानी और दूसरे हिन्दुस्तानी के बीच सदा खाई बनी रहेगी? नहीं, हमें इस खाई को पाटना ही होगा। हिन्दुस्तान की आत्मा एक है। सब हिन्दुस्तानी एक हैं। हम हिन्दुस्तान को एक ऐसा बाग़ बनायेंगे जिसमें बरन-बरन के फूल खिले हैं, अलग-अलग रंगों के, अलग-अलग खुशबुओं के मगर सब उसी एक ही बाग़ के हैं और एक होकर सब उसको अपनी खुशबू और अपनी ताज़गी से भर रहे हैं। हम हिन्दुस्तान को ऐसा बाग़ बनायेंगे।

कहने की ज़रूरत नहीं कि ऐसा बाग़ बिना पैसे के नहीं बन सकता। अतः हिन्दुस्तान को एकता की डोर में बाँधने के लिए स्वामी परमानन्द को उचित आर्थिक सहायता दी जाती है। इतिहास में बहुत बार ऐसा हुआ है कि बड़े-बड़े

काम पैसे की चट्टान से टकराकर चूर हो गये हैं। आज़ाद हिन्दुस्तान अब ऐसा नहीं होने देगा। हमको भले और टैक्स लगाना पड़े मगर इतना तय है कि अब कोई बड़ा काम पैसे की चट्टान से टकराकर चूर नहीं हो सकता। जितना पैसा चाहिए हो, लो और काम करके दिखाओ।

और स्वामी परमानन्द काम करके दिखला रहे हैं। अहा, कितना मीठा, कितना मीठा काम है बिछुड़े हुओं को गले मिलाना!

यह हो सकता है कि दर्शकों को बहुत काम होता न दिखायी देता हो। कोई-कोई कहते भी हैं—स्वामी जी कहाँ का बड़ा पहाड़ ढकेलते हैं!

मगर सोचने का यह कितना ग़लत ढंग है कि पहाड़ ढकेलना ही दुनिया का अकेला बड़ा काम है। हर काम का अपना तर्ज़ होता है अपनी अहमियत होती है। सब धान बाइस पसेरी—यह भी कोई बात हुई? काम काम का भेद होता है। जो काम तलवार कर सकती है उसे सुई नहीं कर सकती—मगर जो काम सुई कर सकती है उसे तलवार भी नहीं कर सकती। सुई का काम है फटे हुए कपड़े को सीना। स्वामी परमानन्द का काम भी सुई-जैसा ही था—फटे हुए दिलों को सीना। यह काम शोर-शराबे से, हड़बोंग मचाने से, नारे बुलंद करने से नहीं होगा। शोर-शराबे वाले काम दूसरे होते हैं, उनमें शोर ज़्यादा होता है, काम कम। यह काम और है—फटे हुए दिलों की रफ़ूगरी। यह तो बहुत बारीक काम है, बहुत ही बारीक मगर जानलेवा—पर इसमें शोर की कहाँ गुज़र!

लिहाज़ा स्वामी परमानन्द का काम गूँगे का गुड़ था, चुपके-चुपके बैठे रफ़ू किया करते थे। साल में बस दो-तीन बार उनके अस्तित्व का पता चलता था—वही होली-दशहरा-ईद। होली और दशहरे में कुछ हिन्दुओं को मुसलमानों के गले से मिला देना और ईद में कुछ मुसलमानों को हिन्दुओं के गले से मिला देना—स्वामी परमानन्द का यही परम आनन्द और चरम उपलब्धि थी। इस दृष्टि से उनके काम में विस्तार कम और गहराई ज़्यादा थी। स्वामी जी की निगाह सन्तान छोड़कर और सब बातों में हमेशा क्वालिटी पर रहती थी। इसी लिए जहाँ यह सच था कि हिन्दू-मुसलिम-सिख-ईसाई-सब-हैं-भाई-भाई द्वारा आयोजित इन पर्वों में बहुत थोड़े ही लोग शरीक होते थे, वहाँ यह भी सच था कि इन आयोजनों पर पैसा काफ़ी दरियादिली से ख़र्च होता, पच्चीसों घड़े पानी केवड़े से बसाया जाता, एक दूसरे पर छिड़कने के लिए गुलाबजल बीसियों गुलाबपाश में तैयार रहता, इत्रदान में हिना और ख़स के इत्र, बेशुमार फूल और फूलों के गजरे—सभी चीज़ों का प्रबन्ध बड़ी उदारता से किया जाता।

हिन्दुस्तान को एक बिरादरी में बाँधने की ये तिमाही, छमाही, सालाना कोशिशें बन में नाचा मोर किसने देखा न हो जायें, इस ख़याल से स्वामी जी अपने प्रचार-विभाग को बहुत चौकस रखते थे। और ठीक भी था, सारे हिन्दुस्तान को जब तक यह बराबर मालूम न होता चले कि कैसे हिन्दू-मुसलिम-सिख-ईसाई एक बिरादरी बनते जा रहे हैं तब तक तो काम को अधूरा समझो। स्वामी जी को अधूरा काम करने से सख़्त नफ़रत है। लिहाज़ा पन्द्रह-बीस दिन पहले से ही अख़बारों में तैयारियों

की ख़बरें आने लगतीं और लोग चर्चा करने लगते। कुछ लोग स्वामी जी के लिए कुछ बुरी-बुरी बातें भी कहते सुने जाते—भाई, बड़ा धूर्त आदमी है। एक ही ठग है यह स्वामी परमानन्द! ओफ्फ़ोह, न कुछ करना न धरना और हज़ारों रुपया खा जाता है!....सुना आपने, स्वामी जी का नया मकान बन रहा है, यह सब हिन्दू-मुसलिम-सिख-ईसाई की बरकत है!....

ग़रज़ कि कुछ लोग ऐसे भी थे जो स्वामी परमानन्द और उनके हिन्दू-मुसलिम-सिख-ईसाई को अच्छी निगाह से नहीं देखते थे। मगर उससे क्या, वह तो हर अच्छे काम के संग लगा हुआ है वर्ना दुनिया में इतने शहीद क्यों होते। मन्सूर को सूली दे दी गयी, ईसा को सलीब पर लटका दिया गया, सुक़रात को ज़हर का प्याला पीना पड़ा, बापू को गोली मार दी गयी—यही तो दुनिया का क़ायदा है। ज़माने ने भला कब अपने उपकारकों को पहचाना है! आदमी जब चला जाता है तब लोग उसकी पूजा करते हैं!

स्वामी जी को दृढ़ विश्वास है कि उनके साथ भी यही बात होगी लेकिन इस कोरे विश्वास से उनका पेट भला कैसे भरता, बालबच्चेदार आदमी ठहरे। भावी कीर्ति का विश्वास ठीक है मगर काफ़ी नहीं क्योंकि सद्गृहस्थ को वर्तमान में भी जीना पड़ता है। यही सब बातें सोचकर स्वामी जी अपनी सन्तति के लिए पाँच क़िते का एक विराट् मकान बनवा रहे हैं जैसा कि मन्सूर या सुक़रात या ईसा या गाधी किसी ने भी नहीं बनवाया। यह मकान बीच बाज़ार बन रहा है और इसकी नीचे की मन्ज़िल में दूकानें होंगी जो किराये पर उठायी जायेंगी। ये चारों दूकानें काफ़ी बड़ी-बड़ी होंगी। एक में हिन्दू मिठाई

की दूकान होगी, दूसरी में एक मुसलमान की टेलरिंग शॉप होगी, तीसरी में एक सरदार जी की कपड़े की दूकान होगी और चौथी में क्रिश्चियन फ़ेलोशिप सेंटर रहेगा। इस तरह स्वामी परमानन्द अपने जीवन-स्वप्न को चरितार्थ कर दिखायेंगे। किराया जो मिलेगा, वह तो नितान्त आनुषंगिक बात है।

अजी, ज़माना बदल गया है। यह सुक़रात और बुक़रात का ज़माना नहीं सन् तिरेपन है। वह दिन लद गये जब सुक़-रात को ज़हर का प्याला पीना पड़ता था। यह आज़ाद हिन्दुस्तान है। इसमें सुक़रात ज़हर का प्याला नहीं पीते, मुल्क को एकता की डोर में बाँधते हैं और नया पांचक़िता मकान बनवाते हैं। कुछ लोग जो खुद निकम्मे हैं, नाकारे हैं, मारे जलन के कच्ची-पक्की बातें बकते हैं। उन्हें बकने दो। हम सागर के समान गंभीर हैं। हम विषपायी नीलकण्ठ हैं।

इन स्वामी परमानन्द को देखकर पंडित रमाबिहारी चतु-र्वेदी के हृदय में ईर्ष्या का अग्निकुण्ड धधकने लगता था। यह नहीं कि चतुर्वेदी जी के पास अपनी कोई उचित व्यवस्था न थी। स्वामी जी की एक दूकान के बदले में चतुर्वेदी जी के पास दस दूकानें थीं; मगर बात कुछ ऐसी थी कि चतुर्वेदी जी के पास वह अद्वितीय हस्तलाघव नहीं था जो कि स्वामी जी की अपनी चीज़ थी। चतुर्वेदी जी की ईर्ष्या का कारण संभवतः यही था। वह एक संख्याबहुल कृतियोंवाले छोटे कलाकार की

ईर्ष्या थी एक बड़े कलाकार के प्रति जिसने जीवन में एक ही चित्र बनाया था पर वह चित्र मास्टरपीस था।

चतुर्वेदी जी को आज मिनिस्टर साहब के पास पहुँचने की जल्दी थी और आज ही सारे विघ्न पड़ रहे थे। और विघ्न भी कैसा—स्वामी परमानन्द ! चतुर्वेदी जी मन ही मन भुन उठे मगर ज़ाहिरा बहुत प्रीति-भाव दरसाते हुए बोले—नमस्कार स्वामी जी !

स्वामी जी ने भी उतने ही उत्साह के साथ कहा—नमस्कार चतुर्वेदी जी। श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, कहिए क्या समाचार हैं ?

चतुर्वेदी जी ने सहस्राब्दों की थकन का भाव अपने चेहरे पर लाते हुए कहा—अरे क्या बताऊँ स्वामी जी, मुझे तो ये समितियाँ मारे डालती हैं—

स्वामी जी ने ईषत् मुसकराते हुए कहा—श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, मैं तो एक ही में तबाह हूँ। आपको तो श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, दस-पंद्रह, न जाने कितनी सभा-समितियों का भार वहन करना पड़ता है। आपका धैर्य, आपका साहस सचमुच प्रशंसनीय है। आप तो जन संग्राम के तपे हुए योद्धा हैं। आपके स्थान पर कोई दूसरा हो तो पागल हो जाये, श्री-कृष्ण गोविन्द हरे मुरारे।

यह कहकर स्वामी परमानन्द अजस्र करुणा से मुसकराये।

चतुर्वेदी जी को यह बात थोड़ी अटकुट लगी कि स्वामी जी इस प्रकार उनका स्तुतिगायन करें और वे स्वामी जी को कोई प्रतिदान न दें। फलतः उन्होंने उदारतापूर्वक स्वामी जी को अपनी कोटि में लेते हुए कहा—क्या कहते हैं स्वामी जी, हम

सभी का तो वही हाल है। आप क्या मुझसे कम पिसते हैं? देश-सेवा का प्रसाद यही है।

देशसेवा के असल प्रसाद के बारे में दोनों महानुभाव मौन थे। पर मौन से बड़ी भाषा नहीं। दोनों ने दोनों के संकेत समझ लिये और पुनः देशसेवा के लिए चल दिये—चतुर्वेदी जी हीराजी की प्राण रक्षा के लिए एक मिनिस्टर साहब के यहाँ और स्वामी परमानन्द हाथ की रेखाओं का विचार करने के लिए दूसरे मिनिस्टर साहब के यहाँ। स्वामी जी सामुद्रिक के अच्छे ज्ञाता थे और उनकी कापी में देश की अनेक बड़ी-बड़ी विभूतियों के हाथों के छापे थे। मिनिस्टरों के यहाँ निर्बाध प्रवेश पाने के लिए यही उनका सबसे अचूक प्रवेश-पत्र था।

१३ खून की लकीर

बेचारे चतुर्वेदी जी आज पता नहीं किसका मुँह देखकर उठे थे कि सत्कार्य में विघ्न पर विघ्न पड़ रहे थे। स्वामी परमानन्द से पल्ला छुड़ाकर वह दस क़दम भी न गये होंगे कि आज़ादजी हठात् न जाने कहाँ से अवतरित हो गये।

मोटी कोकटी का जाँघिया और उसी का अधबहियाँ कुर्ता जो कमर के ज़रा ही नीचे तक पहुँचता था, पैर में एक टूटी-फूटी चप्पल, कंधे से एक विराट् झोला झूलता हुआ जिसमें एक बड़ा-सा भोंपू और उनकी लिखी हुई एक छोटी-सी किताब की सौ दो सौ प्रतियाँ—और बाँयें हाथ में एक बड़ा-सा तिरंगा झण्डा उठाये हुए, सिर और दाढ़ी के बाल जंगली घास की तरह उगे हुए, गन्दुमी रंग, कुछ दुहरा-सा बदन जो कभी कसरती था और अब झूल गया है। बिलकुल हज़रत मूसा की शकल समझिए। शकल से हज़रत मूसा, मिज़ाज से हज़रत

दुर्वासा ! पीर-औलिया आदमी, विधान सभा के लोग उनके गुस्से से थरथर काँपते थे। और कैसे न काँपते; जिसे भूत-भविष्यत्-वर्तमान हस्तामलकवत् है ऐसे त्रिकालदर्शी तत्वज्ञानी से कौन न डरेगा ? उन्हें विधान सभा के एक-एक सदस्य और एक-एक मन्त्री का भूत-भविष्यत्-वर्तमान पता था। कौन क्या है; किसने कब कैसे शुरू किया और तिकड़मबाज़ी करता हुआ सत्ता की गद्दी पर पहुँच गया; कौन कल तक साम्प्रदायिक दलों का सरग़ना था और कैसे रातोंरात कांग्रेस का चौधरी बन बैठा; किसकी किससे साँठ-गाँठ है; कौन किसका आदमी है; कौन अचलगढ़ या विक्रमपुर के राजा का पिछलगुआ है, कौन किस सेठ के पैर की जूती है; किसने कब किस मौक़े पर कोई लंबा हाथ मारा; जेल में जब डन्डे बरसने लगे तब कौन-कौन घिघियाये, कौन-कौन भागकर कोने में दुबक गये—आज़ादजी को सब पता था। ऐसे भयंकर आदमी से डर लगना स्वाभाविक बात है। विधान सभा में ऐसे कई गण्य-मान्य सज्यन थे जो आज़ादजी की छाया से कतराते थे। उनका कहीं पर मौजूद होना अच्छे अच्छों की बोलती बन्द कर देता था। किसी की हिम्मत न थी कि उनके आगे डींग हाँकता। नानी के आगे ननियाउर की बात—

आज़ाद जी ज़िले के सबसे पुराने कांग्रेस कार्यकर्ताओं में से थे। सन् बीस में जो उन्होंने घर छोड़ा तो फिर आज तक लौट कर नहीं गये। बीवी मर गयी, लड़की मर गयी, लड़का न जाने कहाँ लापता हो गया—सब सब हुआ मगर आज़ाद जी ने अपनी टेक न छोड़ी। पता नहीं, शायद कुछ लोग ऐसे होते ही हैं जिन्हें बनाते समय भगवान् उनकी मिट्टी में काफ़ी-

सी भाँग घोल देता है ! आज़ादजी हमेशा से कुछ ऐसी ही औघड़ तबियत के आदमी रहे हैं। बस एक जो राह पकड़ ली तो नाक की सोध में उसी पर चलते चले जायेंगे, भले रास्ते में दीवार खड़ी हो, दीवार नहीं पहाड़ खड़ा हो। समझदार आदमी का तरीका यह नहीं है। मगर आज़ादजी समझदार आदमी तो हैं। नहीं (समझदार होते तो आज गद्दी पर न बैठे होते !) सिपाही आदमी हैं और सिपाही के लिए थोड़ी-सी नासमझी एक जरूरी शर्त है। मिट्टी-मिट्टी का फ़र्क होता है। यह मिट्टी का फ़र्क़ नहीं तो और क्या है कि जो आज़ादजी डंडा-गोली खाने में, अपना घर-दुआर फूंकने में सबसे अव्वल थे, आज़ादी मिलने पर गद्दी की छीनाझपटी में एकदम फिसड्डी रह गये। किसी ने उनको कौड़ी को भी न पूछा। वह आज भी वैसे ही घूर पर खड़े हैं और वह लोग जो समझदार थे और सदा फूंक-फूंककर कदम रखते थे और डंडा चलने पर योगबल से अकस्मात् अंतर्ध्यान हो जाते थे, आज ऊँची-ऊँची कुर्सी पर बैठे हैं। सब मिट्टी का ही तो फ़र्क़ है।

आज़ाद जी पचास के हुए मगर उनके शरीर में अब भी बहुत कुछ वही पुराना कसबल है। हाँ, कान से अलबत्ता बहुत कम सुन पड़ता है, एक तरह से बहरा ही समझिए। सन् तीस में उनकी जो कड़ी पिटाई जेल में हुई थी, यह उसकी यादगार है। पुलिसवाले तरीक़े भी तो बड़े नये-नये ईजाद करते हैं। पता नहीं किस जगह पर उन्होंने मारा कि आज़ाद जी जनम भर के लिये करीब-करीब बहरे हो गये। दबंग, अक्खड़ आदमी थे—ऐसी कोई यातना नहीं जो उन्होंने चौदह साल के अपने जेल-जीवन में नहीं सही। मुर्ग़ा उन्हें बनाया गया, हाथ-पैर

बाँधकर उल्टा उन्हें लटकाया गया, तेल में भिगोयी हुई बेंतें उन्हें पड़ीं, जेठ-बैसाख की धूप में दिन दिन भर खड़ा उन्हें रक्खा गया, बरफ़ की सिल पर लिटाया उन्हें गया, ठिठुरते हुए जाड़े में काल कोठरी में पानी भरकर उसमें नंगा रक्खा उन्हें गया, एक धागा नहीं तन पर—क्या कुछ उन्होंने नहीं सहा। सब कुछ सहा और हँसते रहे। मगर कब वह हँसी पागल की हँसी में तब्दील हो गयी, किसी ने नहीं जाना। उनका दिमाग़ ख़राब हो गया। इस वक्त वह सचमुच नीमपागल हैं। बातें अब भी बड़ी चुटीली करते हैं और कुछ ऐसी बात नहीं है कि कोई उन्हें झट से पागल कह दे। मगर सच बात है कि उनका दिमाग़ अब सोलहो आने ठीक नहीं है। अब वह इसी तरह जाँघिया और फतुही पहने, अपनी टुटही चप्पल फटफटाते, एक बड़ा-सा तिरंगा झंडा लहराते, अपने बड़े-से झोले में एक बड़ा-सा भोंपू और अपनी किताब 'कांग्रेस का भंडाफोड़' की सौ पचास प्रतियाँ लिये, जटा-जूट बढ़ाये गाँव-गाँव घूमा करते हैं। जहाँ रात हुई वहीं पड़ाव डाल दिया और जिसने जो नमक-रोटी दे दी, खा ली और भरपेट पानी पीकर सो रहे और फिर सुबह हुई और वह आगे चल पड़े। पहले के घूमने और अब के घूमने में फ़र्क़ ज़रूर है लेकिन गाँववालों के लिए वह अब भी वही आज़ाद जी हैं। सब कुछ मिट जाता है मगर आज़ादी की राह में गिरे हुए खून की लकीर नहीं मिटती। हाँ, धूल बहुत बार चढ़ जाती है—और तभी लोग यह करते हैं कि युग-युगान्तर से उत्तराधिकार में मिले हुए किसी जादू-मंतर से, जिसका रहस्य कोई आज तक नहीं जान सका, उस खून की लकीर को रास्ते की धूल में से उठाकर बड़े प्यार से अपने सीने में बिछा लेते हैं कि

जैसे वह कोई महकती हुई क्यारी हो। आज का यह पागल, सिड़ी आज़ाद लोक-मानस में एक ऐसी ही खून की लकीर की तरह खिंचा हुआ था। लोग जानते थे कि यह आदमी पागल है, इसका दिमाग़ ठीक नहीं; लेकिन लोग यह भी जानते थे कि वह क्यों पागल है और क्यों उसका दिमाग़ ठीक नहीं है। इतना ही नहीं, मन ही मन उनको यह भी पता था कि कैसे यह पागल-पन दूर हो सकता है। लेकिन इसका उपाय उनके हाथ में न था। उनके पास तो बस अपनी श्रद्धा थी।

आज़ाद जी के पास प्रतिदान के लिए अब कुछ न था। जो कुछ था वह पहले ही दे चुके थे। और फिर अब वह उस संतपद को पहुँच गये थे जहाँ लेन-देन की भाषा ओछी पड़ जाती है। देने को तो उन्होंने अपनी ज़िन्दगी ही दे डाली थी, अब बचा क्या। लेकिन तो भी आज भी अपने से जो सेवा बन पड़े उसके लिए वह सदा तत्पर रहते थे। किसी दुखिया माँ का बच्चा बीमार हो, यह पागल आज़ाद रात की रात पहरा देता था। कोई बुढ़िया मर रही हो, और दुनिया में कोई उसका न हो जो उसे दो घूँट पानी पिला दे—ऐसे के सहारे आज़ाद जी थे, खबर भर लग जाय। हैजे-प्लेग के दिनों में तो जैसे यह पागल और भी पागल हो जाता था—जहाँ कोई न जाता वहाँ यह आदमी जाता; जिस मरीज़ को या जिस लाश को कोई न छूता उसको यह आदमी सहारा देता। पागल था, इसीलिए! और मौत भी जैसे उसके घर का रास्ता भूल गयी थी—शायद इसीलिए कि उसके पास अपना कोई घर न था!

लोगों में वह बाबाजी के नाम से मशहूर थे और बहुत-से लोगों का यह खयाल था कि उन्हें किसी देवी की इष्ट है, तभी तो कोई रोग-व्याधि नहीं पकड़ती !

आज़ादजी के जीवन का तीस साल पुराना व्रत अब कुछ इसी अटपटी चाल से चल रहा था। साईं बाबा की तरह वह यहाँ-वहाँ घूमते रहते। जहाँ जी चाहा खड़े हो जाते और ज़ोर से भोंपू बजाते। भोंपू की आवाज़ सुनकर एक छोटी-मोटी भीड़ जमा हो जाती और तब आज़ादजी अपने पुराने अभ्यास की पीठिका पर खड़े होकर खूब गर्जन-तर्जन के साथ, मोटी-मोटी गालियों का पुट देकर कांग्रेस राज की बेईमानी, घूसघोरी, कुनबा-परवरी की बखिया उधेड़ते, राजगद्दी पर बैठे हुए अपने पुराने साथियों के बारे में न जाने कहाँ कहाँ की नामालूम बातें डंके की चोट पर लोगों को बतलाते—उनका छोटापन, उनका घमंड, उनकी लालच, उनकी दग़ाबाज़ी। पता नहीं उनके उस छोटे से सिर में, जो धूल-पसीने में लिथड़े हुए जंगली बालों का एक ढेर था, कहाँ कहाँ की कैसी ख़ुराफ़ात बातें भरी हुई थीं। आज़ाद जी के इस ख़ज़ाने का कोई अंत न था। और जब वह ख़ूब प्रेमपूर्वक अपने उन पुराने साथियों और आज के गद्दीधारियों को याद कर चुकते तो बड़ी नज़ाकत से अपने झोले में हाथ डालते और उसमें से एक मुर्दा खोपड़ी निकालकर लोगों के सामने करते हुए बोलते—यह काली माई का खप्पर है। इसे अभी और लहू चाहिये। बहुत-सा लहू चाहिये। सन् सत्तावन आ रहा है....

पागल की बातें, कौन उन पर कान देता है ! कुछ लोग हँसते हुए चले जाते, कुछ लोग आपस में कुछ बातें करते हुए

चले जाते, कुछ लोग बाबाजी से जिरह करने की कोशिश करते, कुछ लोग यों ही आते और खड़े हो जाते और चले जाते....

मगर न जाने क्यों सन् सत्तावन आ रहा है, सन् सत्तावन आ रहा है, सन् सत्तावन आ रहा है, यह बानी बड़ी तेज़ी से जंगल की आग की तरह फैलती चली जा रही थी।

कांग्रेस राज एक बार छः महीने के लिए आज़ादजी को जेल भी भेज चुका था, मगर क्या फ़ायदा। जहाँ चौदह साल में कुछ नहीं हुआ वहाँ छः महीने में क्या होता....

तब दुश्मन के खेमे ने सोचा कि मार के आगे भूत भागता है और एक रोज़ रात के वक्त ज़मींदार के तीन-चार गुण्डों ने आज़ादजी को मार लाठी मार लाठी ढेर कर दिया और भाग गये। उन्होंने समझा कि अब साला मर जायेगा। मगर वह साला ऐसा बज्र बेहया निकला कि मरा नहीं। तीस-चालीस दिन एक ग़रीब खेतिहर की खटिया का सेवन करके आज़ादजी फिर उठ खड़े हुए और अपनी राह लगे....

जिससे निष्कर्ष यह निकला कि मार के आगे भूत भले भागता हो, पागलपन नहीं भागता!

तब फिर उस दूर-अंदेश आदमी अकबर इलाहाबादी का कहना मानकर (जब तोप मुक़ाबिल हो, अख़बार निकालो) प्रचार के अमोघ अस्त्र का प्रयोग हुआ और एक बार बड़े ज़ोर से आज़ादजी के पागलपन का ढिंढोरा पीटा गया—

मगर यह तो गाँववालों को पहले से मालूम था!

ग़रज़ कि आज़ादजी का कोई इलाज न किया जा सका और लोगों ने हार-थककर उन्हें उनके हाल पर छोड़ दिया।

उसी पागल आदमी से अब चतुर्वेदी जी का सामना था। बेचारे ने चाहा कि आँख बचाकर कतराकर निकल जायें। मगर आज़ादजी की आँख बचाना हँसी-खेल नहीं है। पागलों की आँखें, सुनते हैं, यों भी ज़रा तेज़ होती हैं।

आज़ाद जी ने आगे बढ़कर दाहिने हाथ से दुबले-पतले चतुर्वेदी जी की बाँयीं बाँह पकड़ी और काफ़ी ज़ोर से झकझोरते हुए बोले—कहिए चौबेजी, पांचो घी में हैं न ?

चतुर्वेदी जी बग़लें झाँकने लगे, कुछ बोले नहीं।

आज़ाद जी ने दूसरा रद्दा दिया—अब कौन नया उल्लू फाँसा है ? कितना दिया उस मक्खीचूस हीराजी ने ?

चतुर्वेदी जी ऐसे भोले बने खड़े रहे जैसे समझ ही न पा रहे हों कि यह हीराजी कौन है और यह पगला क्या बक रहा है। उनका सिटपिटाया हुआ मौन विधिवत् बना रहा। आज़ाद जी ने इससे ज़्यादा छेड़ना उचित न समझा और कंधे पर एक बार ज़ोर से धप् लगाते हुए ठहाका मारकर हँसे और 'जाओ जाओ मुर्गी हलाल करो' कहते हुए आगे बढ़ गये।

चतुर्वेदी जी ने चैन की साँस ली—चलो सस्ते छूटे! यह आदमी क्या है, पूरा राक्षस है, जिसके पीछे पड़ जाय !

आज़ाद जी से सभी तौबा करते थे। बड़े बेढब आदमी थे। मुँह में लगाम तो थी नहीं, अनाप-शनाप जो जी में आये बकते थे। मगर थे आदमी कैंडे के। उन्हें पता था कि ये सब गद्दीधारी उनके नाम से कान पर हाथ धरते हैं। इसीलिए वह

विशेष रूप से उन लोगों को अपने सत्संग का लाभ पहुँचाने को तत्पर रहते थे।

यों तो वह गांवों में चक्कर काटा करते थे मगर जब विधान सभा चल रही होती तब हर काम छोड़कर राजधानी में आ विराजते। सभा भवन के हाते के सामने ज़रा हटकर नीम का एक बड़ा-सा पेड़ था। उसी के नीचे वह धूनी रमाते और अपने गद्दीधारी मित्रों की गाथा सप्तशती का पाठ शुरू कर देते। और तब दो विधान सभाएँ ताल ठोंककर मैदान में उतर आतीं—एक भवन के अंदर और एक भवन के बाहर। एक ओर सैकड़ों योद्धा थे और दूसरी ओर यह एक अकेला दुर्द्धर्ष वीर, अदम्य, अजेय, अटल। भोंपू अगर उनके पास था तो इनके पास भी था, भले टीन का हो। आवाज़ अगर उनके गले में थी तो इनके गले में और बढ़ चढ़कर थी। जितने दिन अंदर सेशन चलता उतने दिन लगातार बाहर भी सेशन चलता। अच्छी खासी भीड़ जमा हो जाती जिसे पुलिस को बीच-बीच में भगाना पड़ता। भीड़ तो जब मदारी के खेल और बंदर के नाच के लिए जमा हो जाती है तो फिर यहाँ कैसे न होती जब एक आदमी विधान सभा के पास ही एक विराट् तिरंगा झंडा गाड़कर उन्हीं विधाताओं के बारे में एक से एक अनोखी बातें बतला रहा हो और हर ऐसी चौंका देनेवाली बात के बाद सीना ठोंककर कहता हो—कहता तो हूँ! हो किसी माई के लाल में दम तो इनकार कर जाय! मैंने यों ही अपनी जिन्दगी मिट्टी नहीं की है। बहुत कुछ सीख गया हूँ। एक एक का हाल जानता हूँ। ये सब जो झकाझक कपड़े पहनकर मोटर में चढ़े घूमते हैं! देश का विधान बना रहे हैं! कहाँ घर में

भूनी भाँग न थी और कहाँ अब घर की औरतें सोने की करधनी बनवा रही हैं, किराये पर उठाने के लिए शहर में ऊँचे-ऊँचे महल खड़े किये जा रहे हैं! यही देश का विधान बन रहा है?

पागल की बातें, जिनका सिर न पैर। ऐसे आदमी को कोई मना भी क्या करे। लोग सुनते और हँसते और आपस में बात करते चले जाते। कोई-कोई कह भी देते—पागल है। दिमाग़ ख़राब हो गया है।

पुलिसवाले भी सुनते और हँसते। वह इस आदमी का करते भी क्या। नंगे से ख़ुदा भी डरता है! उँह, पागल है, बकने दो, कौन सुनता है उसकी बात।

काश कि बात इतनी आसान होती!

बड़े बग्गड़ आदमी से पाला पड़ा था। बिला नाग़ा उसे आप देख लीजिए उसी नीम के नीचे। विधातागण तो भूले-भटके कभी नाग़ा भी कर देते (गो बहुत कम क्योंकि उसका सम्बन्ध उनके दैनिक भत्ते से था!) और ज्यादातर विश्राम-कक्ष में तख़्त पर लम्बे होकर विधान की गुत्थियों को सुलझाते—मगर यह पागल न तो कभी नाग़ा करता और न कभी उसे आराम की ही ज़रूरत पड़ती। पता नहीं उसे किसके सामने जवाबदेही करनी होती थी!

और नेता लोग इस पागल की छाया से भी कतराते कि जैसे वह कोई प्रेत हो।

मगर वह कोई प्रेत न था, वह तो एक पागल आदमी था, एक बड़ा-सा ज़ख़्म, पुराना ज़ख़्म जिसमें टीस भरी थी, इस दुखी

ज़माने की जीवित अन्तरात्मा जिससे आँखें चार करने में उन सबको डर मालूम होता था जिनके दिल में कहीं चोर था।

रामसिंह की इस पागल से बहुत पटती थी। पागल भी रामसिंह को बहुत चाहता था। कहता—सच्चा किसान का बेटा है यह....(उसे नहीं मालूम था कि रामसिंह किसान का बेटा नहीं था।)

चतुर्वेदी जी को पीछे छोड़कर आज़ादजी सभा भवन के पास पहुँचे तो रामसिंह से भेंट हुई।

रामसिंह ने आवाज़ खूब ऊँची करके कहा—आपको पता होगा, हम लोग आज सरकार के खि़लाफ़ अविश्वास का प्रस्ताव लाये थे। गिर गया।

आज़ाद जी ने बात सुन ली, बोले—बहुत बुरा लग रहा है?

रामसिंह ने कहा—नहीं, बुरा क्या लगेगा....

पागल हँसा—हाँ, बुरा नहीं लगना चाहिए। यह तो लड़ाई है। हार-जीत तो लगी ही रहती है इसमें। राज पलटना कोई आसान काम थोड़े ही है। अँग्रेज़ राज भी आसानी से नहीं गया था। आज़ादी की देवी बहुत निष्ठुर है। बहुत रक्त देना पड़ता है तब वह पसीजती है।

रामसिंह मन ही मन हँसा—दुनिया इस आदमी को पागल समझती है!

आज़ाद ने रामसिंह के मन की बात ताड़ ली, बोले—पागल तो मैं हूँ ही बेटा। लोग ठीक कहते हैं।....तुझसे एक बिनती है मेरी, मानेगा? और कुछ नहीं, बस एक बिनती, कि मेरे बाद तू मेरी जगह ले लेना। मैं जानता हूँ कि तू ले सकता

है, तुझमें भी वह पागलपन है। तुझे देखता हूँ तो मुझे अपनी जवानी के दिन याद आ जाते हैं। मैं न रहूँ तो तू मेरा यह झण्डा और यह झोला और यह भोंपू ले लेना। मेरे पास अपना कहने को और कुछ भी नहीं है। पर यह बड़ी चीज़ है बेटा, जो मैं तुझे दे रहा हूँ। यह झण्डा मुझे अपनी जान से भी बढ़कर प्यारा है। इसके नीचे मैंने क्या नहीं झेला। इसी झण्डे को थामे-थामे मैंने वह सब कुछ सहा है जो एक आदमी अपने जीवन में सह सकता है और इसी झण्डे को थामे-थामे यों ही किसी सड़क किनारे मैं एक रोज़ सो जाऊँगा। बहुत हुआ।

रामसिंह को आज़ाद जी की बात से दर्द महसूस हुआ। उसने बात का रुख़ बदलते हुए कहा—अख़बार में आज, हाँ आज ही तो एक ख़बर पढ़ी कि यहीं, इसी राजधानी में, एक माँ ने अपने तीनों बच्चों को ज़हर देकर खुद भी ज़हर खा लिया। घर का घर साफ़। बच्चों का बाप न जाने कहाँ था?

आज़ाद ने कहा—बेटा, भूख खा गयी सबको....ज़हर तो बहाना था....औरत की छाती पत्थर की होती है बेटा, वह सब कुछ सह सकती है, बस एक चीज़ नहीं सह सकती, अपने बच्चों की भूख।

रामसिंह ने पूछा—कौन थी, आपको कुछ पता है?

आज़ाद जी ने कहा—मैं देखने गया था बेटा। इसी नारियल टोले में तो। पूरी बात शायद अख़बार में नहीं आयी, दबा दी गयी। उस औरत का आदमी यानी उन बच्चों का बाप इसी हीराजी वाली खान-दुर्घटना में तो मारा गया। बीमार औरत, पैसा न कौड़ी, तीन-तीन बच्चे....कैसे करती! हुआ जो

होना था !....वह साला चौबे, रमा बिहारी, अभी मुझे मिला था। जी में तो आया कि उससे कहूँ हीराजी की वकालत करने के लिए मिनिस्टर साहब से मिलने के पहले इन चार लाशों से भी मिलता जाये !....लेकिन मैंने कहा नहीं। सबसे सब बात नहीं कहनी चाहिए, बात की इज्ज़त घटती है।

उस वक्त कितनी घृणा थी पागल की आँखों में ! रामसिंह ने उसे पढ़ा। ऐसी ही घृणा का विस्फोट कभी-कभी हत्या का रूप ले लेता होगा !

१४ महाजनो येन गतः स पन्थाः वही गाता है... (हितोपदेश)

असेम्बली का बजट सेशन ख़त्म हो गया। सदस्य लोग अपने बोरिये-बक़चे सँभालने लगे। कैन्टीनवाले अपने बिल लेकर दौड़े। सदस्यों ने अपने कमरे के कूड़े की सफ़ाई के सिलसिले में तमाम अखबारों और विधान सभा की सूचनाओं, विधेयकों आदि के गड्डु रद्दी के भाव बेचकर छः आठ रुपये खड़े कर लिये। विधान सभा के कार्यालय से रोज़ रोज़ मिलनेवाली वे गड्डियाँ आखिरकार मरते मरते भी अपनी उपयोगिता सिद्ध कर गयीं। वैसे तो किसी ने एक बार उन्हें पलटकर देखा भी न था। मगर जैसा कि एक बड़े कवि ने कहा है—हर चीज़ का अपना इस्तेमाल होता है।

पंडित रमाबिहारी चतुर्वेदी ने भी अपने कमरे की रद्दी निकाली मगर वह तो चूँकि हर काम में मामूली आदमियों से

बीस रहते हैं, चुनांचे उन्होंने जब अपनी चीजें सँभालीं तो साथ में अपने कमरे की मसहरी भी बाँध ली।

चतुर्वेदी जी बहुत प्रसन्न थे क्योंकि मन्त्री जी से उन्हें आश्वासन मिल गया था कि हीराजी वाले मामले में वह पूरी मदद करेंगे। और भी तीन-चार छोटे मोटे काम दूसरे मन्त्रियों से थे। वह भी पूरे हो गये थे और अब वह इत्मीनान के साथ घर जा सकते थे। जिसका जो काम लेकर आये थे, सब हो गया था।

ठाकुर परदुमन सिंह को पैसे की उतनी धुन न थी जितनी यश की। पैसे का उपभोग तो वह अपने जीवन में काफ़ी कर चुके थे, हां यश की दुनिया से अब तक दूर थे। सो अब उसमें प्रवेश पाना चाहते थे। उसके लिए ऐन ज़रूरी था कि अखबार में नाम छपे, फ़ोटो छपे, उनकी देशभक्ति का गुण-गान करते हुए लेख लिखे जायें, लोग उनको इन्टरव्यू करें। इसमें पैसे का कुछ खेल जरूर था, मगर फल तत्काल मिलता था। लिहाज़ा दावतें खाना और खिलाना उन्होंने अपना एक पेशा बना लिया था। दावतें खाने और खिलाने से जो वक्त बचता था वह व्यवसाय-वाणिज्य के उपमन्त्री ठाकुर परदुमन सिंह उद्घाटनों को देते थे। यह एक पूरे वक्त का काम था और एक नहीं कई मिनिस्टरों का—देसी शराब की हौली (नीरा-मन्दिर) से लेकर गांधी स्मारक तक, और दोनों के बीच तमाम स्कूल, कालेज, अस्पताल, भिक्षुक-आवास, अनाथा-लय इत्यादि।

पेरिस जाने में भी ठाकुर साहब की मुख्य दृष्टि यशलाभ पर ही थी, वैसे पेरिस के नैश जीवन का आकर्षण भी कुछ कम न था। उनकी देह अब ढीली पड़ रही थी, उसे बिजली छुलाने की ज़रूरत थी और वह बिजली पेरिस की कामिनियों के पास ही थी!

ठाकुर साहब बड़े मगन थे क्योंकि छः महीने के भीतर ही भारत सरकार का एक व्यापारिक शिष्टमण्डल योरप जानेवाला था। उसमें ठाकुर साहब के जाने की बात भी तय पा गयी थी।

ठाकुर साहब स्वभावतः बहुत तृप्ति अनुभव कर रहे थे। बाहर जाने की बात भी पक्की हो गयी थी और फ़िल्म-निर्माण की उनकी योजना और कुछ नहीं तो इतनी आगे तो बढ़ी ही थी कि उन्होंने कई नयी प्रतिभाओं का अनुसंधान और सम्यक् विश्लेषण कर लिया था और जब इतना हो गया तो समझिए सभी कुछ हो गया, फिर और रहा ही क्या करने को!

अब इस समय ठाकुर साहब को एक ही प्रबल आकांक्षा थी, अपने बड़े बेटे रिपुदमन को देखने की, जो हवाई बेड़े में था और साल भर से घर नहीं आया था। ठाकुर साहब ने अपने नाम के एम्बॉस वाला अपना ठाठदार लेटर पैड उठाया और रिपुदमन को चिट्ठी लिखने बैठ गये।

तभी रामसिंह उनके बंगले के सामने से निकला। दरवाजे का पर्दा थोड़ा खिसका हुआ था। ठाकुर साहब सामने ही वाले कमरे में कुछ कर रहे थे। उन्होंने सोचा कि रामसिंह उनके पास आ रहा है। मगर रामसिंह आगे बढ़ गया। चतु-

वेदी जी और ठाकुर परदुमन सिंह जैसे लोगों से उसका मेल कम ही बैठता था। बल्कि इससे तो कहीं अच्छे संबंध उसके कुछ दूसरे कांग्रेसी सदस्यों से थे। वे कांग्रेस के ही टिकट पर चुनकर आये थे और सभा भवन में रामसिंह के विरोधी थे। वे हर बात में आंख मूँदकर अपने दल का साथ देते थे। समस्याओं पर विचार करने का भार उन्होंने पूरी तरह अपने नेताओं पर छोड़ रक्खा था। वे सदा अपने 'विवेक' की बात करते थे; पर उनके विवेक की कुंभकर्णी निद्रा टूटने में न आती थी। पता नहीं किस दिन किस ऐतिहासिक मुहूर्त में उनका विवेक जागने वाला था। बड़ी से बड़ी घटनाएँ हो जाती थीं और वह सोता रहता। हीरा-जी की खान में इतनी बड़ी दुर्घटना हो गयी, इतने लोग जान से मारे गये और जो मरे नहीं उनमें से कितने ही ज़िन्दगी भर को लुंज-पुंज हो गये, मगर किसी के मुँह से आवाज़ नहीं निकली। एक-दो लोगों ने थोड़ी सी दिलचस्पी शुरू में दिखलायी मगर फिर पता नहीं क्या हुआ कि वह भी अपने बिलों में दुबक गये। यह सब तो था मगर इतना ही क्या कम था कि वे लोग अपने निजी जीवन में साफ़ तो थे, खाने-पीने से तो वास्ता नहीं रखते थे। ऐसे लोग भी कम ही थे, मगर थे और उनसे रामसिंह की खासी पट जाती थी। यह सही है कि इन्हीं में से लोग भ्रष्ट होकर धीरे-धीरे वह राह पकड़ लेते थे जिस पर दूसरे अधिक बुद्धिमान लोग पहले से चल रहे थे (महाजनो येन गतः स पन्था) लेकिन यह भी सही है कि इन्हीं में से वे लोग भी निकलते थे जिनका विवेक सचमुच एक दिन जाग उठता था और वे अन्याय के विरुद्ध संघर्ष में साहस के साथ उतर पड़ते थे। मगर वह भी हो या न हो, इतना ही क्या कम था कि जहाँ उनके

दूसरे भाई-बन्द दोनों हाथ से अपना घर भर रहे थे वहाँ उनके हाथ साफ़ थे। इसीलिए रामसिंह की उनसे खासी पट जाती थी। उनकी राजनीति की दिशाएँ अलग अलग थीं। इसलिए राजनीति की बातें उनके बीच वर्जित थीं। पर तो भी मानवता की एक साधारण भूमि तो थी ही जिस पर वे लोग मिल सकते थे, एक दूसरे से हँस-बोल सकते थे और घर-बार, खेती-बाड़ी, सिनेमा-साहित्य की चर्चाएँ कर सकते थे।

चतुर्वेदी जी जैसे लोग अपने इन साथियों को निरा भुग्गा समझते थे, एकदम गोबर। ऐसा आदमी भी क्या जिसकी कोई महत्वाकांक्षा ही नहीं, जो बस अपनी दाल-रोटी में ही मगन है! अजी, पेट तो जानवर भी भर लेता है!

चुनांचे अधिकांश विधातागण ऐसे मनहूसों को अपने से दूर ही रखते थे। बेमतलब रंग में भंग। वे बड़ी शिकायत के स्वर में कहते—एक मछली सारे तालाब को गंदा कर देती है!

१५ गाम भरोखे बैठि के...

अब तक गर्मी अपने पूरे जोबन पर आ चुकी थी। घर के बाहर पैर रखते डर मालूम होता था। पता नहीं यह कैसी ज़मीन है और यह कैसा जल्लाद सूरज! धरती चटियल रेगिस्तान का एक टुकड़ा है जिससे बगूले उठ रहे हैं, आग पर चढ़ी पतीली से उठती हुई भाप की तरह, जैसे धरती को भी किसी ने आग पर चढ़ा रक्खा हो। सूरज यों तप रहा है जैसे उसकी किरनें लोहे की गर्म सलाखें हों जो कनपटी को आर-पार छेदे डाल रही हैं—और धरती तो जैसे भुन उठी है। भूरी मिट्टी, भूरे टीले, भूरी घास, जिसका रेशा-रेशा जल गया है—और दूर तक कहीं छाँह नहीं। न पानी न छाँह। पानी के नाम पर जहाँ-तहाँ कुछ जौहड़ हैं जिनमें ज़्यादातर सुअर और कहीं-कहीं एकाध भैंस तरावट का मज़ा ले रही है। मगर नहीं, पानी एक जगह और है—बमपुलिस से लगकर बहनेवाले उस नाले में जिसमें पानी कम और कीचड़ ज़्यादा है। और छाँह? वह भी है, भले उससे पंथी को छाया न मिलती हो। वह देखिए, दूर-

दूर तक फैले हुए उस चटियल मैदान में खजूर के कैसे-कैसे बुड्ढे पेड़ खड़े हैं, जैसे वो खूसट पटवारी, पेशकार, कुर्क-अमीन—निर्मम, निठुर, नंगे ठूँठ।

वाह, कैसी विलक्षण भूमि है यह जहाँ नीम-जैसा ठंडा, घना, छतनार पेड़ भी अपनी हरियाली खो बैठा है। कहीं छाँह नहीं है। एक कुत्ता जीभ निकाले हाँफ रहा है। एक रिक्शेवाला बूँद-बूँद करके चूते हुए बम्बे से पानी पी रहा है। एक बकरी एक छोटे-से पेड़ की कल्पित छाया में बैठी हुई है। उससे कुछ दूर पर चार-पाँच बैल, शान्तचित्त दार्शनिकों की तरह, धूप की ओर से बेख़बर बैठे हैं। एक भिखारी दम्पति एक मकान से सटकर, उसी की छाया में सुस्ता रहे हैं। बीमार पति हाँफ रहा है और पत्नी उसका धूल से लटा हुआ सर अपनी जाँघ पर रखे सहला रही है।

ऊबड़-खाबड़ सड़क पर एक बैलगाड़ी में रुई की गांठें लदी चली जा रही हैं। (आसमान से यह आग जो बरस रही है उससे जल क्यों नहीं उठतीं ये गांठें !)

और ये लकड़ी के फट्टों के मकान ?....जिनके सामने बांस के टट्टर हैं जिन पर ज़माने भर के चीथड़े चमगादड़ों की तरह लटक रहे हैं। ये नंगे सिर कैसे झेलते हैं यह चिलचिलाती धूप ?

अरे, सब आदत की बात है। दुनिया की सबसे बड़ी सच्चाई यही है—आदत। यही वह ख़ुदाई मरहम है जो बाग़े अदन से इस पथरीली ज़मीन पर ढकेलते वक़्त आदम के बेटे को बख्शा गया था। उसी की बरकत है कि आदमी हर चीज़ का आदी हो जाता है—दर्द का, ग़म का, भूख का, बीमारी

का, अपनों की मौत का, दुनिया की बेहिसी का। तभी तो देखो वह आदमी का बच्चा कैसे हिल-मिलकर उस सुअर के बच्चे के साथ खेल रहा है—दोनों ही धूप के आदी हैं और कीचड़ के आदी हैं।

सान पर रक्खे छुरे की तरह चमकते हुए नीले, निठुर आसमान से बरसता हुआ यह पावक ही उनका पिता और मुहल्ले की तमाम गंदगी के बोझ से भारी यह जोहड़ ही उनकी मां है।

ठाकुर परदुमन सिंह की मां वह नहीं है। उनकी मां कोई और ही देवी है।

जिसने यह सृष्टि बनायी है, यहाँ से वहाँ तक यह सारा खेल रचा है, वह मूर्ख थोड़े ही है। जिसका जैसा मुँह होता है उसको वैसा पकवान मिलता है। सब धान बाइस पसेरी भगवान् का न्याय नहीं है। झरोखे में बैठकर राम सब देखता है....

इसीलिए तो एक आदमी अनाज उगाता है, दूसरा आदमी उसे खाता है; एक आदमी कपड़ा बुनता है, दूसरा आदमी उसे पहनता है; एक आदमी घर उठाता है, दूसरा आदमी उसमें रहता है। जो कुछ है सब पूर्व-नियोजित है, भगवान् द्वारा आदिष्ट है।

इसी लिए उस समय जब कि ठाकुर परदुमन सिंह को विधाता बनानेवाले लोग जेठ-बैसाख की दुपहरिया में दिन के बारह बजे सड़कों पर रोटी खोज रहे थे, स्वयं ठाकुर साहब

अपनी मित्र-मण्डली के साथ अपने शयनकक्ष में खस की टट्टी में आराम से दीवान पर लेटे ऋतुसंहार के ग्रीष्म वर्णन का रसास्वादन कर रहे थे:

सुवासितं हर्म्यतलं मनोहरं प्रियामुखोच्छ्वास विकंपितं मधु।
सुतन्त्रिगीतं मदनस्य दीपनं शुचौ निशीथेऽनुभवन्ति कामिनः।
नितम्बबिम्बैः सदुकूल मेखलैः स्तनैः सहाराभरणैः सचन्दनैः।
शिरोरुहैः स्नानकषायवासितैः स्त्रियो निदाघं शमयन्ति कामिनाम्॥

वह दो-तीन बार अपनी भारी आवाज़ में गाकर मूल श्लोक पढ़ते थे और जब पूरा अर्थ न खुलता था तो भाषा-टीका की सहायता ले लेते थे। ग्रीष्म का ताप झेलने से कितना भिन्न है, कितना भिन्न, ठंडक में बैठकर ग्रीष्म का चित्रमय वर्णन पढ़ना और सो भी कविगुरु कालिदास की ललित शब्दावली में।

चारों ओर चाँदनी छिटकी हुई हो, हम रंग-बिरंगे फौवारों के नीचे बैठे हों, यहाँ-वहाँ भाँति-भाँति के रत्न बिखरे पड़े हों और सुगन्धित चन्दन चारों ओर छिड़का हुआ हो....सुगन्धित जल से धुला हुआ सुन्दर भवन....प्यारी के मुँह की भाप से उफनाती हुई मदिरा....सुमधुर वीणा के साथ गाये हुए गीत....

ठाकुर साहब की मित्रमण्डली के दो और व्यक्ति इस समय उपस्थित थे। एक तो थे तहसील के हेल्थ अफ़सर डाक्टर

चोपड़ा और दूसरे एक मिनिस्टर साहब के बेटे श्री पवन कुमार।

पवनकुमार जी पढ़ने-लिखने में बिलकुल थोदे साबित हुए थे। छः साल में रो-धोकर मैट्रिक पास हुए मगर यों उनकी अक़ल कतरनी की तरह चलती थी। लिहाज़ा जब अपने देश में अपना राज आया तो पवनकुमार जी ने अपने लिए एक ऐसा धन्धा खोज लिया कि क्या कहना। यह उन्हीं की अक़्ल का करिश्मा था। उन्होंने गोरे साहबों और शिकार के दूसरे शौकीनों को शिकार खिलवाने का ठेका ले लिया। वाक़ई यह पवन जी की सूझ-बूझ का एक बड़ा कारनामा था और जैसा कि बाद को तजुर्बे से साबित हुआ, उसमें कमाई भी अच्छी थी।

वह ख़ैर जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि पवन जी के मैदान में आ जाने से शिकार के शौक़ीनों को अब किसी चीज की फ़िक्र नहीं करनी पड़ती थी। वो बस अपनी बंदूकें लेकर पहुँच जाते और बाकी सारे इंतज़ाम पवन जी निहायत ख़ूबसूरती से कर लेते—तंबू-क़नात, दरी-मेज़, चाय-पानी, सोडा-ह्विस्की, ऐंग्लोइंडियन छोकरियाँ, हाँकेवाले, मचान। शिकारी की ज़रूरत की हर चीज़ का इंतज़ाम पवन जी के ज़िम्मे था।

और उस सबसे बड़ी चीज़ का इंतज़ाम भी जिसके बिना शिकार खेला ही नहीं जा सकता—यानी शिकार खेलने का परमिट। यही परमिट पवन जी का तुरुप का इक्का था, उनकी सूझ-बूझ का असल कारनामा। दूसरी चीज़ों का इंतज़ाम तो दूसरे भी कर सकते थे मगर इस चीज़ का इंतज़ाम कोई राजवंशी ही कर सकता था।

कहने का मतलब यह कि पवन जी की अब पाँचों उँगलियाँ घी में थीं। जिस आदमी को यों कोई टके को न पूछता, वह अब ठाठ के साथ बढ़िया सूट-बूट डाटे, टाई लगाये, रेबैंड का नफ़ीस, सुनहरी फ्रेम का धूप का चश्मा लगाये अपनी पांच हॉर्सपावर की रॉयल एनफ़ील्ड मोटर साइकिल पर धड़धड़ाता फिरता था।

जीवन को रसमय बनाने के लिए जितनी चीज़ों की ज़रूरत हो सकती है वह सब उसके हाथ में थीं, उसके हाथ से होकर गुज़रती थीं। पवन जी को किसी चीज़ की कमी न थी। उनकी ज़िन्दगी बहिश्त का आईना थी।

उसी बहिश्त का एक टुकड़ा यह भी था—ठाकुर परदुमन सिंह की हवेली पर, ख़स की टट्टी में, लंबे-चौड़े, गुदगुदे दीवान पर लेटे हुए ऋतुसंहार का पाठ और ठाकुर साहब की ख़ास अपनी नारंगी और अंगूर की शराबों की चुस्कियाँ....

ठाकुर परदुमन सिंह का मन इस काव्यमदिरा से बेसुध हो चला था। डाक्टर चोपड़ा और पवन कुमार का भी बहुत कुछ यही हाल था। तीनों रसिक जीव थे—और फिर रसिक-शिरोमणि कालिदास का ऋतुसंहार, कैसे उनकी संज्ञाएँ विसुध न होतीं!

ठाकुर साहब बोले—वाह वाह, कैसा चित्र खींचा है! कालिदास को कोई नहीं पा सकता।

पवनकुमार किसी दूसरे ही लोक में विचरण कर रहे थे, बोले—मैं तो कहता हूँ, वह ज़माना भी कैसा रहा होगा! क्यों ठाकुर साहब, उस वक़्त क्या सचमुच ये रंगीनियाँ....

ठाकुर साहब ने बात को बीच ही में लोकते हुए कहा—

मैं तो ऐसा ही समझता हूँ। कवि ने ज़रूर अपने वक़्त की सच्ची तसवीर दी होगी।

डाक्टर चोपड़ा एकदम विभोर हो रहे थे, इसलिए चुप थे। अब उनसे भी नहीं रहा गया, बोल पड़े—न न ऐसा न कहिए ठाकुर साहब! गुलाबी में भी यह नशा क्या होगा! और मैं तो कहता हूँ जब चित्रण में ऐसा नशा है तब वह चीज़ क्या होगी जिसका यह चित्र है! खयाल करने भर से जिस्म फुँकने लग जाता है! भगवान् न करे वह दिन फिर कभी लौटे वर्ना हम तो बेमौत मर जायेंगे!

ठाकुर साहब ने मीठी झिड़की के स्वर में कहा—अमाँ तुम भी कोई आदमी हो—

डाक्टर चोपड़ा ने प्रतिवाद किया—यह तो ख़ैर न कहिए ठाकुर साहब—

ठाकुर साहब इस तरह भभकी में आनेवाले न थे, बोले—क्या न कहें जी! मैंने क्या तुम्हें देखा नहीं है! मुझसे कुछ भी नहीं तो दस बरस छोटे होगे मगर हालत यह है कि अच्छी तैयार लड़की को देखकर पैर काँपने लगते हैं!

डाक्टर चोपड़ा इस अपमान को कैसे स्वीकार कर सकते थे; ठाकुर साहब की बात को मज़ाक़ में उड़ाने की कोशिश करते हुए बोले—जी ऽ ऽ ऽ ऽ हाँ! आपने कह दिया और मैंने मान लिया!

ठाकुर साहब—नहीं तो क्या आपने कहा और मैंने मान लिया!....मगर ख़ैर छोड़ो इस बहस को। यह जो पी रहे हो, कैसी है?

डाक्टर चोपड़ा बोले—आप-जैसे शौक़ीन आदमी के

यहाँ यह सवाल ही कहाँ पैदा होता है ? मैंने तो आपके यहाँ जो चीज़ पी, आलातरीन पी—

ठाकुर साहब पर दोहरा नशा चढ़ने लगा। सामने पड़ी हुई किताब को प्यार से सहलाते हुए बोले—मगर भाई, जो नशा यहाँ है वह किसी शराब में नहीं है। यह तुमने लाख रुपये की बात कही चोपड़ा। इसमें तो वह ख़ुमार है जो मरते दम तक न उतरे ! क्या खूब जोग थे वो भी—जवानी का रस भर-पूर निचोड़ लेते थे ! नहीं तो एक यह मनहूस ज़माना है—फ़िक्रें आदमी को मारे डालती हैं।

तभी नौकर ने आकर खबर दी कि थानेदार साहब आये हैं। ठाकुर साहब कड़ककर बोले—बुला ला।

नज़ीर मियाँ 'अच्छा तो तिगड्डुम मौजूद है' कहते हुए कमरे में दाखिल हुए और ठाकुर साहब ने उन्हें बड़ी मीठी फटकार सुनायी—यहाँ आपसे पर्दा करने को कौन बैठा है जो आप बाहर से पैग़ाम भेजते हैं....

नज़ीर मियाँ बोले—वैसे तो कोई बात न थी ठाकुर साहब मगर मैंने सोचा, पता नहीं....

—क्या सोचा आपने ?

नज़ीर मियाँ ने कोई जवाब नहीं दिया और आकर सोफ़े पर विराज गये। ठाकुर साहब ने सधे हुए हाथों से उनके लिए भी एक प्याले में शराब ढाली।

नज़ीर मियाँ बोले—देखता हूँ आप हज़रात को कुछ पढ़ने का शौक़ चर्राया है।

ठाकुर साहब को नज़ीर की बात बुरी तो लगी मगर दोस्त के सात खून माफ़ होते हैं, मुसकराकर बोले—तुम

जाहिल आदमी, पढ़ने-लिखने का हाल तुम क्या जानो!

नज़ीर मियाँ बोले—अच्छा साहब, मैं जाहिल ही सही। लाइए ताश निकालिए, चार छः हाथ रमी खेली जाय।

ताश निकाला गया और सारा दिन, शाम ढलने तक, रमी का दौर चला। कमरे में खस की तरी थी, हाथ में साग़र था, कहां की गर्मी कहाँ का क्या!

रंग में भंग न हो, इसलिए नज़ीर ने यह बुरी ख़बर अब तक रोक रक्खी थी। चलते-चलते बोला—ठाकुर साहब, चन्द्रिका का भूत जाग रहा है....

ठाकुर साहब चौंककर बोले—क्या मतलब?

नज़ीर मियाँ ने बहुत हलके-फुलके अंदाज़ में कहा—यही कि चन्द्रिका का भूत जाग रहा है। कोई रामसिंह कल तशरीफ़ लाये हैं। शायद कुछ उखाड़-पछाड़ हो....

रामसिंह?—ठाकुर साहब ने कुछ घबराहट के स्वर में पूछा।

—हाँ भई, रामसिंह। सुना है असेम्बली में भी हज़रत ने कुछ शोर मचाया था।

ठाकुर साहब ने कोई जवाब नहीं दिया। शराब का गिलास हाथ में पकड़े बैठे रहे।

यह कैसी बुरी ख़बर लाया है नज़ीर। मगर उस मरदूद चन्द्रिका का भूत क्या सचमुच जागेगा? हिश्, कोई भूत-वूत नहीं जागता। जो बात आयी-गयी हो गयी....

मगर डर उनके मन में बैठ गया। उन्होंने उसे फूँककर

उड़ा देना चाहा मगर वह उड़ा नहीं। मुर्दे क़ब्र में से उठते सुने गये हैं।

ठाकुर साहब ने गिलास मुँह से लगाया और एक घूँट में उसे खाली कर दिया मगर उस डर को न ग़र्क़ कर सके।

तो भी ठाकुर साहब के मन में अभी एक हलकी-सी उम्मीद बाक़ी थी कि और कुछ नहीं तो असेम्बली के नाते रामसिंह ज़रूर उनके पास आयेगा।

मगर रामसिंह नहीं आया।

१६ रत्ना - रावल

रामसिंह की महीने भर की कोशिश से सेंगरामऊ में फिर थोड़ी जान पड़ी और फिर एक रोज़ शाम को उसी मैदान में सभा जुटी जहाँ बरसों पहले कभी रावल का स्वर गूँजा था और सभा में निश्चय हुआ कि अगले रोज़ थाने पर और ठाकुर परदुमन सिंह की हवेली के सामने प्रदर्शन किया जाय।

गोधूलि की वेला थी। थोड़ी-थोड़ी रोशनी अभी बाक़ी थी।

सभा ख़त्म हो चुकी थी मगर एक लड़की खोयी-खोयी-सी बैठी हुई थी। स्वभावतः रामसिंह का ध्यान उसकी तरफ़ गया मगर वह कुछ समझ न सका। इस एक महीने में और भी कई बार उसने इस लड़की को देखा था मगर कभी कोई ध्यान न दिया था। लेकिन आज पता नहीं क्यों वह उसको अनदेखा न कर सका। उसने पास ही खड़े हुए एक साथी से पूछा—अरे, यह लड़की कौन है जी ! जानते हो ?

—हद हो गयी, यहाँ कौन है जो उसको नहीं जानता ? आप सचमुच नहीं जानते ? वह रत्ना है।

—रत्ना ? रत्ना कौन ?

—रावल की प्रेमिका, रावल की मँगेतर....मगर वह तो एक लंबी दास्तान है....

जो उस साथी ने रात को रामसिंह को सुनायीः

....रावल को पता भी नहीं था कि वह गाँव के लड़कों का ही नहीं लड़कियों का भी सरताज बन चुका है। उनकी आपस की बातचीत, बहुत बार, घूम-फिरकर रावल पर आ जाती। कोई उसके रूप पर मोहित थी कोई उसके पौरुष पर। और खुद रावल को किसी से कोई मतलब न था।

मर्द की हिम्मत में एक ऐसी कशिश होती है जो हर इन्सान को अपनी तरफ़ खींचती है और औरत को खास तौर पर। औरत सबसे पहले मर्द में हिम्मत देखती है। अगर उसे चुनना पड़े तो वह एक बार आबनूस की तरह काला और बद-सूरत आदमी भी चुन लेगी अगर वह हिम्मत का पक्का है मगर किसी भी हालत में वह एक डरपोक, बुज़दिल आदमी को न चुनेगी, भले वह कैसा ही छैल-छबीला हो। रावल में तो फिर रूप और साहस दोनों का संयोग हो गया था। उसका वह दिव्य रूप और साहस की वे गाथाएँ, गाँव की कितनी ही कुमा-रियों ने मन ही मन अपनी वरमालाएँ उसके गले में डाल दी थीं। वे अपनी टोलियों में बैठकर विस्तारसहित उसकी चर्चा करतीं, उसको लेकर आपस में ठिठोली करतीं, सूने में उसके

सपने देखतीं। मगर रावल था कि किसी से कोई मतलब ही नहीं। हाँ, मुसकराहट वह सबको देता, पर वह तो उसका स्वभाव था।

लेकिन एक लड़की थी जो उसके विरागी मन को भी मथती थी। रत्ना कभी-कभी अपनी मां के संग रावल के घर आती थी, रावल की माँ के पास। रत्ना देखने-सुनने में कोई सुन्दरी न थी, किसी तरह से नहीं। उससे सुन्दर लड़कियाँ गाँव में कई थीं पर रत्ना में कोई ऐसी बात थी जो किसी के पास न थी। वह शायद थी उस दुबली-पतली, लंबी-सी, साँवली-सलोनी लड़की की एक ख़ास तरह की गंभीरता जिसने बरबस रावल का मन मोह लिया था।

रत्ना की माँ अपनी बेटी को लेकर ग़रीबी में दिन काट रही थी। रत्ना के पिता के स्वर्गवास को दस बरस से ऊपर हो गये थे। उस समय रत्ना छः बरस की थी। अब वह सयानी हो गयी थी और मां को उसके ब्याह की चिन्ता पड़ी थी। पर बेटी का ब्याह बिना पैसे के नहीं होता। रत्ना हृदय से चाहती थी कि वह ब्याह न करे और सदा इसी तरह अपनी दुखियारी मां के पास बनी रहे, उसकी सेवा करती रहे। पर मां को यह मंजूर न था। लिहाज़ा वह चुपके-चुपके इसी की उधेड़-बुन में लगी रहती थी। रावल की मां के पास भी वह कुछ यही स्वार्थ लेकर जाती थी। उसका ख़याल था कि अगर रावल अपने किसी साथी से कह देगा तो कोई उसकी बात न टाल सकेगा....पता नहीं कभी रावल की माँ ने उससे रत्ना की बात की या नहीं,मगर ख़ैर रत्ना और उसकी माँ का रावल के यहाँ आना-जाना बराबर बना रहा। धीरे-धीरे ऐसा भी होने लगा कि रावल कभी ज़रा

देर के लिए रत्ना के घर पहुँच जाता और देखता कि रत्ना बड़े मनोयोग से घर के किसी काम में लगी हुई है, कभी कोई फटा कपड़ा सी रही है तो कभी चौके में खाना बना रही है तो कभी घर में झाड़ू लगा रही है। उसके जीवन का एक ही ध्येय था, अपनी माँ को अधिक से अधिक आराम पहुँचाना। उसकी यह सेवापरायणता रावल के मन को बहुत भाती। शायद उसके मन के किसी निभृत कोने में ऐसी ही किसी नेक लड़की की चाह थी जो आकर खुद उसकी बुढ़िया माँ को आराम पहुँचाये।

एक रोज़ रावल दिन भर यहाँ-वहाँ घूमने के बाद जब रात को घर लौटा तो उसने माँ को बिछौने पर पड़े कराहते पाया।

—कैसी तबियत है अम्माँ ?

माँ ने कराहते हुए जवाब दिया—पेट में बड़ी पीर है बेटा। जैसे कोई चाक़ू से अँतड़ी को काटे डाल रहा हो !

रावल को बड़ी परीशानी हुई। रात के दस बजे हैं। इस वक़्त सेंगरामऊ में डाक्टर कहाँ रक्खा है। एक वह हेल्थ अफ़सर साहब हैं, वह इस वक़्त ठाकुर साहब के यहाँ या और कहीं बोतल मुँह से लगाये धुत्त पड़े होंगे और दूसरे वह हैं डाक्टर खरे, मरीज़ मरता न हो तो उनकी दवा से मर जाये। और तीसरे वह हैं चटर्जी बाबू, होम्योपैथ—दिन को तो बेचारे ठीक रहते हैं मगर रात को खुद उनका दमा इस ज़ोर से उभड़ता है....अब इस वक़्त आदमी जाये भी तो किसके पास ?

और कुछ न सूझा तो वह भागकर पहुँचा रत्ना के घर। दरवाजा भीतर से बन्द था पर दाहिनी बग़लवाली कोठरी में

अभी रोशनी थी। रावल ने दरवाज़ा खटखटाया। भीतर से आवाज़ आयी—कौन?

—मैं हूँ, रावल....

—आप? इतनी रात को?

—माँ के पेट में बड़ा दर्द हो रहा है। छटपटा रही हैं। तुम्हारे पास अमृतधारा तो नहीं है?

—शायद होगी। देखती हूँ।

रत्ना ने शीशी लाकर रावल को दी और वह चलने को हुआ तो रत्ना की माँ ने कहा—रत्ना, मेरा जी ठीक नहीं है। तू चली जा रावल के संग। इस बेचारे के किये क्या होगा....

रावल ने कहा—नहीं-नहीं....क्या ज़रूरत....मामूली दर्द है....मगर माँ नहीं मानीं।

—और देख बेटी, पेट में मालिश भी कर देना।

रास्ते में रावल ने पूछा—तुम इतनी रात गये क्या कर रही थीं रत्ना?

रत्ना ने बेतुका-सा जवाब दिया—परसों आपका जन्म-दिन है....

—तो?

—तो कुछ नहीं।

तब तक घर आ गया। माँ अब भी वैसे ही तड़प रही थीं। रत्ना ने अमृतधारा पानी मिलाकर दी। थोड़ी ही देर बाद दर्द कम होने लगा।

—तुम तो बड़ी डाक्टर निकलीं रत्ना!

—कहाँ! डाक्टर तो आप हैं, मैं तो केवल नर्स हूँ!

रावल ने चुटकी ली—किसी को ऐसी नर्स मिले तो बीमारी भी एक नेमत बन जाये....

रत्ना लजा गयी। बोली—कैसी अशुभ बात....

रत्ना को उसके घर छोड़ आने के लिए जब रावल उसके संग गया तो दोनों शायद अनजाने ही एक-दूसरे से और भी दूर-दूर चल रहे थे। कोई एक शब्द नहीं बोला।

रत्ना ने घर में दाखिल होते हुए हलके से मुसकराकर कहा—परसों आपका जन्म दिन है। भूलिएगा मत। आइएगा, मैं आपका मुँह मीठा कराऊँगी।

अगले रोज़ सबेरे से वह फिर अपने काम में डूब गया पर उसके मन के किसी कोने में कोई बैठा बाँसुरी बजाता रहा। पेड़ों में नयी कोंपलें आ रही थीं, चमकते तांबे के रंग की। नन्हीं-नन्हीं चिड़ियाँ इस डाल से उस डाल पर फुदकती फिर रही थीं और अमराई उनके चहचहाने से गूँज रही थी। धान के हरे-हरे खेत हवा के झोंकों में समुद्र की लहरों की तरह उठ-गिर रहे थे। गायें मैदानों में चर रही थीं। बकरी के बच्चे यहाँ से वहाँ कुदक रहे थे। सब में आज रावल को एक ऐसा संगीत सुनायी दे रहा था जिसकी ओर अब तक कभी उसका ध्यान नहीं गया था। आज उस उमंग के पुतले को भी अपने भीतर एक नयी उमंग की अनुभूति हो रही थी।

आज रावल का जन्म दिन है। रत्ना बहुत याद रखती है। बड़ी अच्छी लड़की है रत्ना।

रावल को सबेरे-सबेरे ही दस मील दूर एक गांव में

जाना था; पर रत्ना से मिले बिना वह न जा सका।

—नमस्ते मौसी।

—आ गये बेटा? मैं जानती थी। रत्ना कहती थी—

—क्या कहती थी रत्ना?

—रत्ना कहती थी तुम नहीं आओगे।

रत्ना पास ही खड़ी चुपके-चुपके मुसकरा रही थी।

—क्यों रत्ना?

—झूठ थोड़े ही कहा मैंने....

—क्या तैयारियाँ की हैं जन्म दिन की?

—गुड़ के गुलगुले छोड़ यहाँ और क्या मिलेगा!

—तो लाओ जल्दी करो। मुझको जाना है।

—मैं कहती थी न अम्माँ!—कहती हुई रत्ना गयी और एक तश्तरी में काफ़ी-सी मिठाई रखकर ले आयी।

—वाह, ये तो बड़े अच्छे गुलगुले हैं!—कहते हुए रावल ने एक मिठाई उठाने के लिए हाथ बढ़ाया।

—हैं हैं! इतनी जल्दी न कीजिए। पहले टीका तो करा लीजिए।

—अरे तो करो न जो कुछ करना है। तुम तो पूरी कवायद कराये डाल रही हो!

रत्ना ने कटोरी में से चंदन और केसर लेकर रावल का टीका किया और झुककर उसके पैर छूते हुए कहा—हाँ अब मुँह मीठा कीजिए....और चली गयी।

रावल ने कहा—तुम भी तो खाओ।

रत्ना ने वहीं, बाहरवाली कोठरी से पुकारकर कहा—जन्म दिन आपका है, मेरा थोड़े ही!

रावल पानी पीकर, इलायची लेकर चलने को हुआ तभी रत्ना केसरिया रंग के कुछ कपड़े लेकर आ गयी। बोली—यह लीजिए, अपना केसरिया बाना, मैंने तैयार किया है। पाजामा, कुर्ता, टोपी।

रावल ने कुछ अचकचाकर पूछा—यह क्या ?

रत्ना शरारत से हँसती हुई बोली—इतना भी नहीं मालूम आपको, कैसे राजपूत हैं! समरभूमि के लिए यही तो रजपूती बाना है।

रावल बोला—अच्छा ऽऽऽ अब समझा....मगर तो भी....

रत्ना ने कहा—जाइए जाइए, आपको देर हो रही है। बस इतना याद रखिएगा कि यह हमारे स्नेह का कवच है आपके लिए—गांव भर की लड़कियों की तरफ़ से....कहते-कहते रत्ना ने रस में डूबी हुई आंखों से रावल को देखा और लजा गयी।

स्नेह का यह संबंध कब प्रेम के सम्मोहन में बदल गया, रत्ना या रावल किसी को पता नहीं चला। मगर भीतर ही भीतर दोनों का मन उसके गुलाबी रंग से भीग उठा। रावल को ठहर-कर इस विषय में चिन्ता करने का तो अवकाश नहीं था, लेकिन उसके मन में जिस एक नये और मधुर आवेग की सृष्टि हुई थी, उसकी सच्चाई से वह भी इनकार नहीं कर सका। कपोत-कपोती का निश्छल प्रणय-व्यापार, पेड़ों का मर्मर संगीत, धान के खेतों का हरित श्यामल अंचल, सरसों की पीली चूनर, फूलों पर मँडराते हुए मधुलोभी भौंरे, वनभूमि की अक्षय सुरभियाँ—

सबों के मीठे संकेत अब रावल के लिए खुलने लगे जैसे पहले नहीं खुले थे। और उसका आप्यायित मन जीवन से दुगनी शक्ति खींचने लगा।

कैसी सच्ची मोहब्बत थी दोनों में! उसका जादू ऐसा था कि इस पिछड़े हुए क़स्बे में भी किसी ने एक रोज़ उनकी मुहब्बत को बुरी नज़र से नहीं देखा। वह चीज़ ही ऐसी थी। वह आसक्ति नहीं थी, प्रेम था, सच्चा प्रेम। आप ही कहिए आसक्त होने योग्य रत्ना में ऐसा कौन-सा गुण है। रत्ना से कहीं सुन्दर लड़कियाँ हमारे इसी सेंगरामऊ में थीं लेकिन रावल को किसी से कोई मतलब न था। और ठीक वही हाल रत्ना का था। रत्ना भी कभी किसी की ओर नहीं झुकी। दो बड़ी अकलुष आत्माओं के मिलन की तैयारी थी जबकि वज्रपात हुआ। इतना रोयी इतना रोयी रत्ना कि लगता था योंही रो-रोकर मर जायेगी। मगर कोई ऐसे नहीं मरता, रत्ना भी नहीं मरी मगर वह न मरना घोरतर पीड़ा थी क्योंकि उसके बाद से आज तक कभी किसी ने उसे मुसकराते नहीं देखा, कि जैसे विषाद का एक भूरा बादल अचल होकर उसके चेहरे पर बैठ गया हो। मुझसे तो देखा नहीं जाता उसकी तरफ़। क्यों, किस अपराध के लिए भगवान् ने उसको यह दण्ड दिया?....अभी उनका ब्याह नहीं हुआ था, सगाई भी नहीं हुई थी मगर रत्ना ने मन ही मन उसे अपना पति चुन लिया था, उसी को निबाह रही है। इसी तरह उसने पन्द्रह बरस काट दिये और वह षोडशी आज की यह अकाल प्रौढ़ा रत्ना बन गयी, कि जैसे लहराते हुए हरे हरे धान को पाला मार गया हो। अभी उसकी क्या उमर है मगर वह कोई शौक़ नहीं करती, कोई शौक़ नहीं। नेम-धरम दिखावे की नहीं हृदय

से पालन करने की चीज़ होती है और उसका साक्षी बस अपना अन्तःकरण होता है। समाज की दृष्टि में वह किसी प्रकार विधवा नहीं है पर अपनी दृष्टि में है। शायद और समय बीतने पर उसका घाव पुरे, मगर शायद नहीं। योंही एक दिन वह मर जायेगी और वह उसकी लाश की मौत होगी क्योंकि रत्ना तो तभी मर चुकी, यह तो एक विषाद की कहानी है जो जी रही है।....बड़ा अच्छा हुआ कि उसकी माँ अपनी बेटी का दुःख देखने के लिए ज़िन्दा नहीं रही। मैं जानता हूँ जिस दिन रत्ना नहीं रहेगी गांव का तिनका-तिनका रोयेगा, लेकिन तो भी शायद सबके दिल से उसके लिए एक ही आवाज़ निकलेगी—बड़ा अच्छा हुआ, बड़ा अच्छा हुआ, छुटकारा मिल गया बेचारी को....

१७ युद्ध-पर्व

वह रात दोनोंही शिविरों में काफ़ी बेचैनी से कटी। दोनों पक्ष के दूत अपर पक्ष के समाचार ले आ रहे थे जिनसे पता चलता था कि अगले रोज़ लोहे से लोहा बजेगा, कड़खे गूँजेंगे—

अगले दिन जुलूस जब निकला तो तमाशबीनों को बड़ी हैरानी हुई—इस ज़रा से कस्बे संगरामऊ में ये इतने लोग कहाँ से ज़मीन फोड़कर निकल आये! हम तो इनको मुर्दों से भी बदतर समझे थे, अपने पशु-सुलभ जीवन व्यापार में आकण्ठ डूबे हुए—यह आ कहां से गये इतने लोग?

तमाशबीनों को डर मालूम हुआ—यह कुछ ख़तरनाक तमाशा होने जा रहा है। सन् सत्तावन की उस खूनी यादगार को अपने सीने में छिपाये वह जल्लाद बरगद अब भी वैसे ही खड़ा था। सौ बरस हुए बाग़ी उसकी शाखों पर झूले थे और अब ये नये बाग़ी! तमाशबीनों को और भी ज़्यादा डर मालूम हुआ।

मगर आज न जाने कैसी उल्टी हवा बही थी कि तमाशबीन कम और बाग़ी ज़्यादा नज़र आ रहे थे। औरों की कौन कहे, खुद रामसिंह को इतना बड़ा जुलूस देखकर थोड़ा अचरज हुआ। इतने लोगों की उम्मीद तो उसने भी न की थी। क्या बुड्ढा क्या जवान, क्या मर्द क्या औरत—सभी आज निकल आये थे। खासकर औरतें जिनमें से कई की गोद में बच्चे थे।

ठाकुर परदुमनसिंह की खूनी हवेली के सामने सर ही सर दिखायी देते थे और नारों के शोर से बरगद के पंछी बौखलाकर पंख फड़फड़ा रहे थे।

मगर तैयारी जैसी इधर थी वैसी ही उधर भी थी। शहर से पुलिस की काफ़ी कुमक मँगा ली गयी थी।

हुजूम बढ़ता जा रहा था और उसका जोश भी। पीढ़ी-दर-पीढ़ी भीतर ही भीतर घुटता हुआ विद्रोह, जिसे एक बार रावल ने जगाया था, आज फिर मुखर हो रहा था। लोग बार-बार लहू-लुहान हुए थे, कई बार हिम्मतें पस्त भी हो गयी थीं, मगर तो भी अपनी टेक उन्होंने न छोड़ी थी। दीवार न भी टूटे तो क्या, उससे सर टकराने में भी शायद कुछ मज़ा आता है और जो सच पूछिए तो दीवार भी कुछ न कुछ हिल ही जाती है। आस्था बड़ी चीज़ है। जिसे हम न्याय का संघर्ष कहते हैं, वह कोई नाजुक फूल का पौदा नहीं होता जिसे किसी वक्त उखाड़कर फेंका जा सके, वह तो एक विशाल तने का आदिम दरख्त होता है जिसकी जड़ें धरती की कोख में न जाने कितनी गहरी और कितनी दूर तक समायी रहती हैं। उसको पानी देने की भी ज़रूरत अकसर नहीं होती, धरती से वह खुद ही अपना रस खींच लेता है और खींचता रहता है।

नारों का शोर बढ़ता जा रहा था। पुलिस की तैयारियों को देखकर लोगों के भीतर जोश का उबाल और तेज़ होता जा रहा था।

रामसिंह ने बार-बार यह बात साफ़ कर दी थी कि हमारा प्रदर्शन एकदम शान्तिपूर्ण होगा मगर उससे क्या होता है, नौजवान टोली के दिल में ईंट का जवाब (अगर पत्थर से नहीं तो) ईंट से देने की बात थी और अपनी नातजुर्बेकारी में उन्होंने इसकी थोड़ी-बहुत तैयारी भी कर ली थी। लेकिन उन्होंने अगर कुछ भी न किया होता तो पुलिस ने अपने जो गुर्गे जुलूस में भेज रखे थे वह इसके लिए काफ़ी थे कि किसी वक्त दो-चार ईंट-पत्थर जुलूस के अंदर से पुलिस पर चला दिये जायें।

और वही हुआ।

कोतवाल नज़ीर की त्योरियाँ चढ़ गयीं। उसने ठाकुर साहब की तरफ़ देखा, ठाकुर साहब ने उसकी तरफ़ देखा। ठाकुर साहब की मुसकराहट जो उन्होंने जबर्दस्ती अपने चेहरे पर चिपका रक्खी थी, थोड़ी देर के लिए गायब हो गयी और उसकी जगह एक क्रूर संकल्प दिखायी दिया।

रामसिंह जुलूस के आगे आगे था। उसकी आँखें भी ठाकुर परदुमन सिंह से मिलीं, गोया आँखें नहीं दो तलवारें मिलीं, तेज़, खूनी, ज़हर में बुझी हुई। कितनी घृणा थी उन दोनों आँखों में, कितनी हिंसा!

रामसिंह के ठीक पीछे औरतों की टोली थी, रत्ना के नेतृत्व में।

नौजवानों की टोली में और औरतों की टोली में इस बात को लेकर काफ़ी झगड़ा हुआ था कि आगे कौन रहेगा, लेकिन

अन्त में रत्ना की वकालत सफल हुई। रत्ना ने कहा—अब तक औरतें किसी गिनती में नहीं थीं। लोग उन्हें घर का आभूषण बनाये हुए थे। लेकिन अब वह जाग रही हैं, इसलिए उन्हें आगे आने का मौक़ा देना चाहिए। इतना ही नहीं उन्हें इसलिए भी आगे रहने का हक़ है कि वही इस अत्याचारी का ख़ास शिकार रही हैं....

इस तर्क ने सबको परास्त कर दिया था और औरतों की टोली आगे आ गयी थी।

नज़ीर ने आगे बढ़कर रामसिंह से कहा—आप देख रहे हैं? आपके आदमी ईंट-पत्थर चला रहे हैं। यह ठीक बात नहीं है। उन्हें मना कर दीजिए वर्ना बात बढ़ जायेगी।

जुलूस का ईंट-पत्थर चलाना खुद रामसिंह को नहीं पसंद था, मगर नज़ीर ने जिस तरह धमकी के लहजे में उससे बात कही, वह उसे अच्छी नहीं लगी। उसने सोचा था कि लोगों को शान्त रहने के लिए कहेगा, मगर नज़ीर की बात सुनकर उसका उत्साह नष्ट हो गया। उसने कोई जवाब नहीं दिया और वैसे ही, पत्थर की मूरत की तरह खड़ा रहा। उसकी खामोशी से नज़ीर को और ताव आया। उसने कहा—अगर आप रोक-थाम नहीं करेंगे तो हमें भी मजबूर होकर—

रामसिंह को चन्द्रिका की हत्या के बारे में सारी बातें मालूम हो चुकी थीं। उसे नज़ीर के चेहरे से नफ़रत मालूम हो रही थी। अब उससे और न बर्दाश्त हो सका। वह चिल्ला पड़ा—भाग जाओ!....

नज़ीर चौंककर एक क़दम पीछे हट गया और फिर दो मिनट बाद माइक पर से घोषणा हुई—यहाँ दफ़ा १४४

लगी हुई है। यह जुलूस गैर कानूनी है। आपको हुक्म दिया जाता है कि पांच मिनट के अन्दर अन्दर इस जगह को खाली कर दें वर्ना पुलिस को सख्त कार्रवाई करनी पड़ेगी—

पल भर के लिए सन्नाटा छा गया, ऐसा कि बगल के आदमी का सांस लेना भी सुना जा सकता था।

तभी रामसिंह की कड़कती हुई आवाज़ सुनाई दी—जुलूस भंग नहीं होगा। जो लोग जाना चाहें खुशी से जा सकते हैं। हम किसी को मजबूर नहीं करते।

उस वक्त शायद कुछ लोगों के दिल में यह ख़याल आया भी हो कि अब यहाँ से टल जाना चाहिए; लेकिन राम-सिंह की बात के बाद किसी कि हिम्मत वहाँ से खिसकने की नहीं हुई। कायरता सभी के लिए यकसाँ शर्म की चीज़ होती है और आदमी को सबसे पहले खुद अपनी नज़रों में गिरा देती है। और फिर, स्त्रियों के सामने तो पुरुष और भी अपने साहसी रूप में ही सामने आना चाहता है। लिहाज़ा एक आदमी अपनी जगह से नहीं हिला।

और मिनट पर मिनट बीतते जा रहे थे, ख़तरनाक मिनट, खूनी मिनट। लोगों के दिल धड़क रहे थे मगर वह उस दह-शत को कहीं पैर जमाने की ज़मीन नहीं दे रहे थे। नज़ीर कोतवाल के पीछे ठाकुर परदुमन सिंह खड़े थे। मुँह पर हवाइयाँ उड़ रही थीं। नज़ीर मियाँ अपनी कलाई की घड़ी पर आँख जमाये पांच मिनट गुज़रने का इंतज़ार कर रहे थे और बीच-बीच में घड़ी पर से नज़र उठाकर भीड़ को देख लेते थे जिसमें कहीं कोई जुंबिश न थी। नज़ीर मियाँ के दिमाग़ का पारा बराबर

गर्म होता जा रहा था। यह सब इसी मरदूद रामसिंह का फ़साद है! इसी का इलाज पहले होना चाहिए!

नज़ीर का खून खौल रहा था और पांच मिनट पूरे हो रहे थे और कई हज़ार कण्ठों से नारे उठ रहे थे।

तभी माइक की बुलन्द मगर घरघराती हुई आवाज़ में हुक्म गूँजा—डिसपर्स....

कोई डिसपर्स नहीं हुआ। उल्टे लोग और भी अच्छी तरह पैर जमाकर खड़े हो गये, विशेषतः स्त्रियों की टोली, राम-सिंह के ठीक पीछे, कि जैसे शक्ति का एक अटूट स्तंभ।

नारे और भी तेज़ी से लगने लगे। पुलिसवाले अपनी लाठियाँ तौलने लगे।

'चार्ज' का हुक्म हुआ और लाठियाँ बरसने लगीं। कई मिनट तक इसी तरह लाठियाँ तड़तड़ाती रहीं। कितने ही लोग गिर गये। किसी के सर से खून बह रहा था, किसी का हाथ झूल गया था।

जुलूस के एक आदमी ने ठाकुर परदुमन सिंह को अच्छी तरह ताक रक्खा था। उसने काफ़ी बड़ा-सा एक पत्थर ठाकुर परदुमन सिंह पर चलाया। पत्थर जाकर ठाकुर साहब की कन-पटी पर बैठा और वह चकराकर गिर पड़े, खून की धार बह चली। कुछ पत्थर नज़ीर के कान के पास से भी सनसनाते हुए गुज़रे। नज़ीर के गुस्से की आग में घी पड़ा। उसने पिस्तौल उठायी और रामसिंह पर दाग़ दी....

और रत्ना वहीं रामसिंह के पैरों के पास गिर पड़ी। रामसिंह बौड़म की तरह मुँह देखता रह गया, कुछ समझ नहीं

सका यह क्या हुआ कैसे हुआ, कहाँ से कब यह लड़की मेरे सामने आ गयी....

रत्ना को निश्चय करने में एक भी क्षण नहीं लगा। रत्ना जैसे लोगों को, जो यों नितान्त साधारण होते हैं, अपने कर्तव्या-कर्तव्य का असाधारण विवेक होता है। उनके विचार और कर्म के बीच अनिश्चय की, संशय की कोई प्रेतछाया भी नहीं होती। उनकी सरल आस्था ही उनकी शक्ति होती है।

रत्ना के जीवन में कहीं कोई उलझाव नहीं था, सीधा-सपाट उसका जीवन। छुटपन से ही उसने पिता की छाँह नहीं जानी और अपनी ज़िम्मेदारी को निभाना सीखा। परिस्थितियाँ आचरण बनीं, आचरण स्वभाव। दुनिया में एक माँ ही तो थी उसके पास, जिसकी देखभाल भी बहुत कुछ उसी को करनी पड़ती थी।

फिर धीरे धीरे एक और आदमी उसकी ज़िन्दगी में दाखिल हुआ और उसका अकेलापन टूटा, उसने एक सच्चे आदमी के प्रेम का सुख जाना, मगर कितने दिन! एक रोज़ अचानक वह आदमी हमेशा के लिए उससे छीन लिया गया और वह फिर अकेली हो गयी।

फिर बरसों के उदास जीवन के बाद यह रामसिंह सेंगरा-मऊ आया। रत्ना के मन ने न जाने क्यों कैसे किस युक्ति से रामसिंह को रावल के एक अंश के रूप में ग्रहण कर लिया—

रावल जिस आदर्श के लिए जिया और मरा उसका निर्वाह रामसिंह करेगा। उसको मरना नहीं चाहिए। क्या मैं

अपने रावल के लिए प्राण नहीं दे सकती ? भगवान्, मुझे साहस दे !....

रत्ना को गोली छाती में लगी थी और गरम-गरम खून का फ़ौवारा छूट रहा था। मगर प्राण अभी शेष थे। रामसिंह ने जब उसका सर उठाकर अपनी जाँघ पर रखा तो वह मुसकरायी, अथक पीड़ा की वह अर्थगंभीर मुसकराहट जिसने कुछ न कहकर भी सब कुछ कह दिया। लोग रत्ना के प्रथम उपचार के लिये दौड़े मगर रामसिंह को पता था कि उसकी चोट कितनी सांघातिक है। उसने कहा—अब तंग करने की ज़रूरत नहीं है।

रत्ना की चेतना अब भी शायद लुप्त नहीं हुई थी। उसने यह बात सुन ली और फिर मुसकरायी और दम तोड़ गयी।

रामसिंह को फिर किसी बात का होश नहीं रहा और वह 'तुम्हारा दुश्मन तो मैं था....तुम्हारा दुश्मन तो मैं था'....चिल्लाता हुआ पागलों की तरह नज़ीर पर लपका।....मगर बीच ही में पुलिसवालों ने उसको पकड़ लिया और मुश्कें कस दीं और उसी तरह ले जाकर पुलिस की गाड़ी में रख दिया, जो उसको लेकर भागने के लिए तैयार खड़ी थी। भीड़ मोटर की तरफ़ तेज़ी से बढ़ती आ रही थी। मोटर फ़ौरन चल पड़ी। रामसिंह ने चलती मोटर में से एक छः-आठ परत किया हुआ कागज़ मोटर के क़रीब ही खड़े हुए अपने एक आदमी की तरफ़ फेंका। पुलिसवालों ने उसको ऐसा करते देख लिया और वह भी उस कागज़ की तरफ़ लपके मगर वह कहाँ उनके हाथ लगना था, यह जा, वह जा, छूमंतर।

रात को लोगों ने उस काग़ज़ को पढ़ा।

—यह मेरे जन्म की कहानी है जिसे कोई नहीं जानता, जिसे जाननेवाला अकेला व्यक्ति मर चुका है, जिससे खुद मैंने यह कहानी जानी। और अगर आज मैं मारा जाऊँ तो मेरे साथ यह कहानी भी हमेशा के लिए चली जायेगी जो कि मैं नहीं चाहता गो मेरे लिए यह कोई खुशगवार कहानी नहीं है और न उससे मेरा सम्मान ही बढ़ता है। मेरा एक मन कहता है कि अँधेरे का जो पर्दा पड़ा हुआ है उसको पड़ा रहने दो। लेकिन एक और मन है जो कहता है कि नहीं, इस अँधेरे के पर्दे को उठाओ, इस राज़ को खोलो, अपने कलंकित जन्म की कहानी दुनिया को जानने दो, क्योंकि वह कलंक तुम्हारा नहीं है, तुम्हारी माँ का भी नहीं है....

—हाँ, मुझे सारी कहानी मालूम है। मेरी माँ ने मुझसे कुछ भी नहीं छिपाया। अपनी शर्म और ज़िल्लत को छिपाने के लिए

रात को लोगों ने उस काग़ज़ को पढ़ा।

—यह मेरे जन्म की कहानी है जिसे कोई नहीं जानता, जिसे जाननेवाला अकेला व्यक्ति मर चुका है, जिससे खुद मैंने

—यह बात आज की नहीं, बहुत पुरानी है, उतनी ही पुरानी जितना कि पुराना मैं हूँ, छब्बीस साल।

—मेरी माँ का नाम केसर था। लोग कहते हैं कभी वह बड़ी सुन्दर थी। मैं इसके बारे में कुछ नहीं जानता क्योंकि अपनी याद में मैंने उसे सदा उतनी ही बुड्ढी देखा जितनी कि वह उस रोज़ थी जब उसने मेरी गोद में दम तोड़ा। हाँ तब शायद बाल इतने नहीं पके थे मगर आँखों में पीड़ा यही थी, शरीर भी निढाल ऐसा ही था। मगर लोग कहते हैं कि कभी वह बड़ी सुन्दर थी। तभी ठाकुर परदुमन सिंह की निगाह उस पर गयी....और ज़हर के बीज से, कलंक की कोख से मेरा जन्म हुआ....मगर यह मैं थोड़ी आगे की कहानी कह गया।

—मेरी माँ ठाकुर साहब की हवेली पर जाया करती थी। ठकुरानी साहबा मेरी माँ को बहुत मानती थीं। घर के काम-धाम कराने के सिलसिले में मेरी माँ को अकसर हवेली पर जाना पड़ता था। और जब ब्याह के साल भर बाद ठकुरानी साहबा की गोद भरी और बड़े कुँअर साहब का जन्म हुआ, तब ठकुरानी साहबा ने बच्चे की देखभाल के लिए मेरी माँ को बाक़ायदा दाई के रूप में रख लिया।

—ठाकुर साहब की आँख पहले ही से उस पर थी, अब उनको मौक़ा मिला और एक रोज़ रात को....

—मेरे कानों में आज भी वह भयार्त्त चीख़ गूँज रही है बरसों बाद एक रात मेरी माँ के मुँह से निकल गयी थी। मैं जो अपनी माँ का बेटा हूँ। मैं जानता हूँ वह ज़रूर उसी चीज़ का सपना देख रही होगी....

—वह रात चट्टान की तरह हमेशा के लिए उसके सीने पर

बैठ गयी। उसके बाद फिर वह कभी आज़ादी से साँस नहीं ले सकी, मुसकरा नहीं सकी, किसी से आँख नहीं मिला सकी। उसके बाद फिर सूरज नहीं निकला, तारे नहीं खिले, चाँद नहीं मुसकराया,—बस वह थी और कोख में वह ज़हर का बीज था जिसको उसे ढोना था। उससे मुक्ति पाने के अनेक उपाय किये मगर कोई नतीजा नहीं निकला और वक्त पूरा होने आ रहा था और लाज ढँकने को छाँव न थी और वधिक समाज की आँखें पारदर्शी थीं और हवा में तीर सनसना रहे थे और आकाश के उस सर्वज्ञ पिता के मन में करुणा न थी और धरती के इस अंधे पिता के मन में करुणा न थी और बेचारी की निस्सत्व, बाँझ करुणा बहरे शून्य में बिखर गयी थी और हवा में तीर सनसना रहे थे और वधिक समाज की आँखें पारदर्शी थीं और लाज ढँकने को छाँव न थी और वक्त पूरा होने आ रहा था। और तब वह मेरी अभागिनी माँ मुझे अपनी कोख में ढोती हुई गाँव से भाग निकली और फिर दूर कहीं, सड़क किनारे, किसी पेड़ के नीचे उसने मुझे जन्म दिया।

—और तब फिर संघर्ष का दूसरा कल्प आरम्भ हुआ। कहीं समवेदना न थी। कहीं ममता न थी। सब ओर बस घृणा थी और निठुर संघर्ष था। पर हाँ, अब मेरी माँ के मन में शक्ति थी क्योंकि मैं उसकी गोद में था।

—माँ की उसी अपराजेय शक्ति ने मुझे पाल पोसकर बड़ा किया। अनन्त कठिनाइयों की उस पन्द्रह बरस लम्बी रात का अब आज इतना परिचय काफ़ी है जब कि वह रात बीत चुकी है और मैं मरा नहीं हूँ। पर जब पलटकर सोचता हूँ, मेरे लिए

क्या नहीं किया क्या नहीं सहा मेरी उस कलंकिता माँ ने तो मैं अवाक् रह जाता हूँ, छिन्नवाक्....

—मगर एक बार जब वह रात गुज़र गयी तो ज़िन्दगी निस्बतन् आसान हो गयी और एक मेहरबान की बाँह का सहारा मिला और मैं बड़ा हुआ, पढ़ा-लिखा और इसी बीच एक ठिठुरती हुई सर्द रात में मेरी वह कलंकिता, सती माँ मर गयी और वह क्षमा की देवी थी पर मैं कभी अपने उस क्रूर, निर्दयी बाप को क्षमा नहीं कर सका। मैं किसी को क्षमा नहीं करता। क्षमा मेरे अंदर नहीं है।

चतुर्दिक् मरघट का मौन था। आज का दिन कैसा अजीब गया!

१८ शेष कथा

सेंगरामऊ का यही एक अच्छा रास्ता है।

उसी रास्ते से कभी रामसिंह की माँ ठाकुर परदुमनसिंह से प्राप्त रामू को अपने गर्भ में लेकर भागी थी।

उसी रास्ते से चम्पाकली सात महीने ठाकुर परदुमनसिंह और नज़ीर मियाँ की हविस बुझाकर और फिर तिरस्कृत होकर कलकत्ते भागी थी जहाँ उसने छः बरस तक निर्बाध अपने शरीर का व्यवसाय किया और फिर दर्द से चीख़-चीख़कर मर गयी।

उसी रास्ते से लोग कभी रावल की लाश ले गये थे, और अब रत्ना की लाश ले गये, पुलिसवैन में बन्द करके रामसिंह को ले गये।

उसी रास्ते से सिविलसर्जन साहब अपने असिस्टैन्ट के साथ आये, ठाकुर साहब की मरहम-पट्टी के लिए।

ठाकुर साहब को पेनिसिलीन के इंजेक्शन दिये गये और वह दस-बारह रोज़ में बिलकुल चंगे हो गये और अब भी विधान सभा को सुशोभित कर रहे हैं और उनके बड़े कुँअर

साहब, एयरफ़ोर्स से रिटायर होकर, बहुत बड़े फ़ाम पर खेती और फ्रूट प्रिज़र्वेशन करते हैं। पैसे ठाकुर साहब अपने जैम-जेली से कमाते हैं और नाम असेम्बली में और विदेश यात्राओं में और इसी तरह सुचारु रूप से उनका काम चलता रहता है। धीरे-धीरे वह उपमन्त्री से मन्त्री बने और तब से बराबर जनता की सेवा करते आ रहे हैं और अब तक एक सौ बीस गोशालाओं और पाँच अस्पतालों और नौ डेयरियों और सत्रह स्कूलों और दस अनाथालयों और चौदह विधवाश्रमों का उद्घाटन कर चुके हैं। इतना ही नहीं उन्होंने अपनी पाँच सौ एकड़ ज़मीन भी भू-दान यज्ञ में दे दी है जिसमें सवा तीन सौ एकड़ ज़मीन तो ऐसी थी जिसका झगड़ा एक अर्से से उनके एक पट्टीदार ठाकुर हरनाम सिंह से चल रहा था और बाक़ी गंजे की खोपड़ी-जैसा चमकता हुआ चटियल मैदान था जिसमें, इतिहासकार बतलाते हैं, सन् अट्ठारह सौ पचासी में एक चने का दरख़्त लगा था और उसके बाद फिर कभी कुछ पैदा होते नहीं देखा गया।